Year 10, Issue 38
April-June, 2013

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष १० - अंक ३८, अप्रैल-जून, २०१३

इदन्नमम्

पद्मश्री डॉ. श्याम सिंह शशि

इच्छाओं के हाँफते लक्ष्य
कंठकाट होड़
जोड़-तोड़
समझौते और अहंभरी उपलब्धियाँ
जीवन-पथ के सहयात्री तो हैं
पर सर्वस्व नहीं
शायद हम भूल जाते हैं -
प्रकृति-नियति के चमत्कार को
चढ़ते सूरज के नमस्कार को

काश
आकाश की ऊँचाई पर
'इदन्नमम्' हमारा मित्र होता
तो हम हम न होते
हममें सब
और सबमें हम होते!

वसुधा

संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
बाराती, घराती और सैम	दिव्या माथुर	३
ग़ज़ल	नरेश शांडिल्य	९
जब समाज को ऊँचा देखना होता है तो वह साहित्य की ओर देखता है - डॉ. नरेन्द्र कोहली		
साक्षात्कार : प्रस्तुतकर्ता	डॉ. राजेश कुमार	१०
ग़ज़ल	डॉ. शशि तिवारी	१५
बनियान	उमेश अग्निहोत्री	१६
जो देखा होता	मणि 'चमन'	१९
बसंत के खेल	डॉ. सुषम बेदी	२०
भाषिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद	डॉ. परमानंद पांचाल	२२
ग़ज़ल	डॉ. लक्ष्मीशंकर वाजपेयी	२६
वह हिन्दी है, हिन्दी रहने दो!	भावना सक्सेना	२७
डॉ. हरिवंश राय बच्चन को लोकप्रिय बनाने में पाठकों की भूमिका	डॉ. राज शेखर	२९
अबकी बार लौटा तो	डॉ. कुँअर नारायण	३३
व्यंग्य का सही दृष्टिकोण - हरिशंकर परसाई	डॉ. प्रेम जनमेजय	३४
कविता	मनोज श्रीवास्तव	३६
प्रथम डेट	स्नेह ठाकुर	३७
जीवन-संध्या	डॉ. मुक्ता	४१
महर्षि अरविन्द का अनुवाद-कर्म	उपेन्द्र नाथ 'अनन्य'	४२
एक अशुद्ध बेवकूफ़	हरिशंकर परसाई	४३
इदन्नमम्	पद्मश्री डॉ. श्याम सिंह शशि	१अ
बादल को देखकर	डॉ. कुँअर बेचैन	४४अ

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534
वार्षिक शुल्क Annual subscription.....$25.00
डाक द्वारा By Mail, Canada & USA.....$35.00, Other Countries.....$40.00
Website: http://www.Vasudha1.webs.com
e-mail: sneh.thakore@rogers.com

संपादकीय

कैनेडा के ऑन्टेरियो प्रांत की प्राकृतिक विशेषता यह है कि यहाँ के चारों मौसम अपने में एक विशिष्ट अनुपम रूप सँजोये हुये होते हैं। चारों के चारों मौसम, शिशिर, वसंत, ग्रीष्म और पतझड़, हर मौसम अपनी 'दिस्टिन्क्ट् फ्लेवर' लिये आते हैं, सुस्पष्ट लक्षणों से विभूषित होते हैं। सर्दी पड़ेगी तो ऐसी कड़क पड़ेगी कि आपकी हड्डियाँ जमा देगी। कोमल वसंत कब चुपके से आकर ऐसी कड़ाके की सर्दी को मात दे जायेगा कि अपनी ऐंठ में पसरी हुई बरफ़ यह जान भी नहीं पाती कि कब चुपके से धरती पर पसरे हुये उसके साम्राज्य में हरी-हरी घास ने सेंध लगा ली है। वह अचानक अचम्भित हो हरी दूब की इस गुस्ताख़ी पर कसमसा उठती है। गर्व से गर्वित उसकी चँदीली चमचमाहट पर पानी फिर जाता है। ग्रीष्म नव-पल्लव से अठखेलियाँ करता हुआ, कभी माँ की तरह आँचल में समेट व कभी बाप की तरह उनकी रक्षा करता हुआ देखते ही देखते उन्हें यौवन की चौखट पर ला कर खड़ा देता है। और तब प्रकृति विभिन्न रंग-बिरंगे परिधानों से लिपटी नवयौवना-सी इठलाती चाल से सबको सम्मोहित कर लेती है। और फिर पतझड़। आह! पतझड़, पर एक शाश्वत् सत्य। चिरन्तर कुछ भी नहीं है। आवागमन, आवागमन।

यदि पतझड़ शाश्वत् सत्य है तो नव-जीवन भी तो एक शाश्वत् सत्य है। यहाँ के वसंत की अपनी ही एक निराली छटा है। आप लेखनी से कवि हों या ना हों, यह मौसम आपको अपने नैसर्गिक सौन्दर्य से अभिभूत कर संवेदनशील कवि-हृदय अवश्य बना देता है। आपके मन-मयूर को प्राकृतिक छटा के लय-ताल पर सुर से सुर मिला मग्न हो नाचने पर विवश कर देता है। वैरागिनी धरती की छाती से अचानक सिर उठाती हुई ट्यूलिप की छोटी-छोटी, नन्हीं-नन्हीं कोमल कोंपलें, एक बार लगाने पर साल-दर-साल स्वयं ही प्रस्फुटित हो आपको यह एहसास करा जाती हैं कि पाषाण-हृदय चीरा जा सकता है। ये जीवंत उदाहरण हैं कि यदि आप गहरे खोदेंगे, गहराई में जायेंगे, प्रतिदिन प्रयास करेंगे तो आप अवश्यमेव ही, निःसंदेह अपनी पूर्ण सम्भाव्य कार्यक्षमता प्राप्त कर लेंगे। "जिन खोज़ा तिन पाइयाँ" की कहावत को सार्थक करते हैं। सूखे ठूँठ-से खड़े पात विहीन वृक्ष पर दो-चार दिनों के अन्तराल में ही एक अनोखी हरीतिमा लिये पल्लवित किसलय यह संदेश देते हैं कि जीवन चाहे कितना ही नीरस या कठोर क्यों न हो, आप चाहें तो नन्हे-नन्हें प्रेम-पल्लव से आप उसे सरस, मधुमय, सुरभिपूर्ण बना सकते हैं। आत्मा की यह आनंदानुभूति न केवल आपको बाह्य वातावरण को साफ़ करने की प्रेरणा देती है वरन् अंतःकरण को भी अभिसिंचित कर उसमें नव-प्राण फूँकने को भी प्रेरित करती है। शिशिर की मार से बचने हेतु हमें छोड़ कर गये पंछी पुनः नये घोंसले बनाने की आस लिये वापिस आ अपनी चहचहाहट से हमारे जीवन को अपने संगीत की मधुर लहरियों से भर यह बताने से नहीं चूकते कि कष्ट के बाद सुख के दिन आएँगे ही आएँगे।

वसंत के नव आगमन पर आइये हम सब भी अपनी कार्यक्षमता को पहचानें। अपने उन प्रयासों को दृढ़-प्रतिज्ञ हो गति दें, उनके प्रति पूर्णरूपेण कमरबद्ध हो जायें जो हमें हमारी अभिलाषाओं, हमें हमारे जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में अग्रसित कर सकें। वसंत को उस मील के पत्थर के रूप में बना लें जिसके इर्द-गिर्द हम अपने जीवन की बगिया को पल्लवित, पुष्पित, सुरभित कर सकें। न केवल स्वयं अपने जीवन का आनंद उठा सकें, अपने आस-पास को भी महका सकें, दूसरों का जीवन भी सुखमय बना सकें। जिस तरह प्रकृति मुक्त हस्त बिना भेदभाव किये सबको अपनी छवि से आनन्दित करती है, मानव भी मानवता के पथ पर बढ़, मानव कल्याण कर, मानव जीवन को सार्थक करें।

प्रकृति के चराचर को मंगल-कामनाओं में समेटे,

सस्नेह,

स्नेह ठाकुर

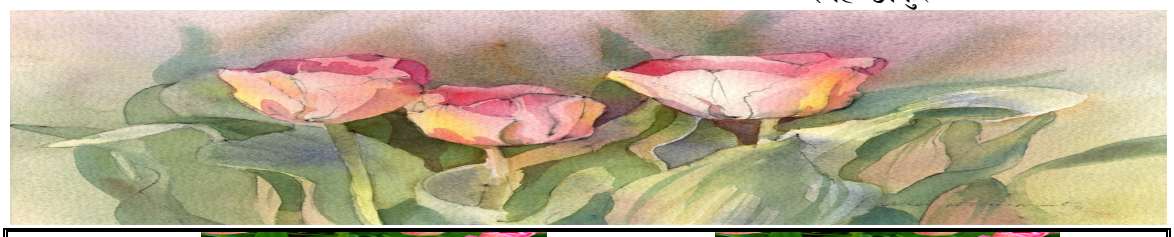

बाराती, घराती और सैम

दिव्या माथुर

पच्चीस साल बाद सैम सिन्हा भोपाल लौटा था. उसका मन बिल्कुल उचाट था. अटपटाया-सा वह बेमक़सद गलियों-बाज़ारों में अकेला भटकता फिर रहा था. जब थक जाता तो वह घर लौट कर आँगन में पड़ी चारपाई पर लेट जाता और अदवायन में अपने पाँव उलझाए बस इसी बात पर मनन करता कि उसे मैनहैट्टन लौट जाना चाहिए अथवा नहीं; वहाँ भी उसका कौन बैठा था जो उसके मन में चल रहे संघर्ष को समझ सकता? उसके लगभग सभी दोस्तों के विवाह हो चुके थे और उनके लिए रोज़ शाम को पब अथवा क्लब के लिए समय निकालना असम्भव हो गया था. यहाँ उसके चाचा-चाची और उनका परिवार था जो उसपर जान छिड़क रहा था; यह बात और थी कि उसे उनका लाड़-दुलार एक आँख नहीं भा रहा था. पश्चिम की 'लीव मी एलोन' वाली मानसिकता से ग्रस्त, सैम को लग रहा था कि उसके 'पर्सनल स्पेस' का लगातार अतिक्रमण हो रहा था. उसकी ऐक्स-गर्लफ़्रैंड पारा ठीक ही कहती थी कि 'ये इंडियंस बहुत चिपकू होते हैं. इंडिया जाओ तो वे मुझे 24/7 घूरते हैं जैसे कि मैं अजायबघर से आई हूँ.'

पाँच महीने हुए जब सैम के माँ-बाप की एक कार-दुर्घटना में मृत्यु हो गई थी किंतु सैम ने भारत में अपने किसी रिश्तेदार को उनके निधन की सूचना नहीं दी थी. महीने में एक या दो बार उसके स्वर्गीय पिता फ़ोन पर अपने छोटे भाई स्वरूप और उसके परिवार से भोपाल में बात किया करते थे. उसे स्वयं भी झीनी सी याद थी अपने चाचा-चाची की. क़रीब पच्चीस बरस पहले जब सैम भोपाल आया था तब चाची ने एक गोल मटोल बच्चे को जन्म दिया था, जिसे सब गोलू के नाम से पुकारते थे. पाँच वर्षीय सैम उसे गोदी में उठा लेता तो सब चिल्लाते, 'अरे गोलू को पकड़ो, कहीं सैम उसे गिरा न दे,' तो उसे बहुत ग़ुस्सा आता था; न जाने क्यों यह याद उसके दिमाग़ में अब तक बसी हुई थी.

प्राइवेट स्कूल में दाख़िला दिलवाने के बाद सैम को जब चाहे छुट्टी दिला कर भारत ले जाना सम्भव नहीं था इसलिए गाहे-बगाहे उसकी माँ और पिता अकेले ही भोपाल हो आते थे. सैम की क्रिसमस अथवा गर्मियों की छुट्टियों के दौरान सुपर-स्टोर्स देर रात तक खुले रहते थे और उसके माँ-बाप, जो दो-दो सुपर-स्टोर्स के मालिक थे, को साँस लेने की भी फ़ुर्सत नहीं मिलती थी. वे सैम से बहुत कहते कि वह अकेला अपने चाचा-चाची के पास भोपाल चला जाए किंतु वह मुँह लटकाए घर पर अकेला बैठना पसन्द करता था. कॉलेज पहुँचते-पहुँचते सैम के बहुत से यार-दोस्त बन गए, जिन्हें छोड़कर वह स्वयं भारत जाने से इंकार करने लगा और इस तरह उसका सम्बन्ध चाचा-चाची के परिवार से बिल्कुल टूट गया.

पाँच वर्ष पूर्व गोलू के विवाह पर भी केवल उसकी माँ ही जा पाई थीं, जिन के हाथ चाचा-चाची ने पौलिएस्टर का एक चमकदार सूट भिजवाया था जो गोलू की ससुराल से सैम के लिए विशेष तौर पर भिजवाया गया था. गोलू के विवाह के फ़ोटोज़ भी सैम को बड़े अजब, घटिया, और कृत्रिम लगे थे और उसने सोचा था अच्छा ही हुआ कि वह शादी में नहीं गया.

ऐसा नहीं था कि सैम का मन न हुआ हो कि डायरी में चाचा-चाची का फ़ोन ढूँढे और उन्हें अपने माता-पिता की मृत्यु की सूचना दे किंतु पारा ने, जो उन दिनों उसकी गर्ल-फ़्रैंड थी, उसे ऐसा करने से रोक दिया था कि भोपाल से कहीं उसके रिश्तेदार यहाँ आ टपके तो वह उन्हें कैसे सम्भालेगा. भारतीय मेहमानों से उकताई हुई पारा के विचार जानकर सैम ने भी यही धारणा बना ली थी कि रिश्तेदार मुसीबत की जड़ होते हैं, जो झूठी मुहब्बत दिखाते हैं और 'जफ्फियाँ डालकर' उधार माँगने की फ़िराक में रहते हैं. सैम जब पिछली बार भोपाल गया था तो उसके चाचा भी सुबह शाम उसके पिता के पाँव छूकर आशीर्वाद लेते थे और पिता उन्हें गले लगा लेते थे. जब देखो तब चाची भी जेठानी के पाँव दबाने बैठ जातीं थीं. क्या वो सब नाटक था?

पिछले वर्ष के दौरान, पारा सैम के जीवन पर बुरी तरह हावी हो गई थी, न सुबह देखती और न शाम, जब देखो तब वह सैम से शराब की बोतल खोलने को कहती और फिर एक के बाद दूसरी बोतलें खुलती चली जातीं. माँ-बाप कुढ़ते किंतु चुप रहते क्योंकि वे डरते थे कहीं सैम फिर बाहर जाकर न पीने लगे; कम से कम बेटा आँखों के सामने तो था और जैसी भी थी पारा भारतीय थी, गोरी नहीं.

माँ-बाप की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात सैम के बहुत से दोस्त और रिश्तेदार मैनहैट्टन में इकट्ठे हुए थे किंतु रहनुमाइ की थी उसके पिता के जिगरी मित्र, शान अंकल ने, जो उनके एकाउंटैंट भी थे. पारा को सैम के दुख का कोई अंदाज़ा नहीं था; उसके लिए तो शराब हर ग़म का इलाज़ थी. शराब, ड्रग्स और सैक्स; ये सब कहीं सस्ते में तो मिलते नहीं और अपना पर्स खोलने को पारा तैय्यार नहीं थी. सैम से उसे ये सब मिल रहा था किंतु घर में हफ़्ता भर से चल रहे भजन-कीर्तन और लोगों की भीड़ जो शोक प्रकट करने लगातार चली आ रही थी, की वजह से पारा उसके माता-पिता की तेरहवीं तक भी न टिकी. सैम का मन सचमुच खट्टा हो गया था. माँ के अभाव में घर की व्यवस्था बिगड़ चुकी थी. गंदे कपडों में और गंदे घर में वह भूखा-प्यासा बैठा रहता था. रिश्तेदार, दोस्त और पड़ौसी आते, जफ्फियाँ मारकर उसे दिलासा देते और उसके लिए भोजन छोड़कर लौट जाते.

उधर, एक महीना पूरा होने को आया और मैनहैट्टन से भाई-भाभी का जब कोई फ़ोन नहीं आया तो स्वरूप को फ़िक्र हुई. उसने कई बार फ़ोन मिलाने की कोशिश की किंतु जैसे ही भारत से डायल किया गया नम्बर देखता, सैम घबरा कर 'बिज़ी' का बटन दबा देता. उसे समझाने वाला कोई न था; उसकी माँ का परिवार अमेरिका में बहुत पहले से ही बसा था किंतु किसी वजह से उन लोगों के यहाँ आना-जाना बंद हो चुका था. मृत्यु पर आए थे वे सब लोग किंतु दिखावे भर के लिए. सैम ने रुकने के लिए नहीं कहा और न ही उन्होंने दोबारा उसकी ख़बर ली.

फिर एक दिन आत्मा के बहुत कचोटने पर सैम ने पिता की डायरी निकाली और चाचा-चाची का फ़ोन नम्बर ढूँढ निकाला. 'मैं मैनहैटन से सैम.' घंटा भर की मेहनत से तैय्यार किया गया एक अधूरा वाक्य सैम किसी तरह से बोल गया. 'अरे समीर, कैसे हो बेटा, हम तुम्हें बहुत दिनों से फ़ोन लगा रहे हैं पर कोई जवाब ही नहीं देता. भैय्या-भाभी कैसे हैं? उन्होंने भी हमें कब से फ़ोन नहीं किया...' 'समीर' के नाम से पुकारे जाने पर सैम भाव-विह्वल हो उठा; सिर्फ़ उसकी माँ ही उसे प्यार से समीर कहकर बुलाती थी.

'मम्मी-पापा...आर...डैड...'

'मम्मी-पापा को क्या हुआ, समीर?' चाचा की घबराई हुई आवाज़ सुनाई दी और फिर सैम को फ़ोन पर एकाएक कई आवाज़ें सुनाई देने लगीं. चाचा ने घबराकर शायद फ़ोन गोलू को पकड़ा दिया था.

'समीर भैय्या, मैं अनंत हूँ ...गोलू, आपका कज़िन. ताऊजी-ताई जी के बारे में आप क्या कह रहे थे?' अनंत ने काँपती हुई आवाज़ में सैम से पूछा जैसे कि वह जान गया था कि उसके ताऊ-ताई जी नहीं रहे.

फ़ोन पर हृदय-विदारक चीखें सुनकर सैम ने घबरा कर फ़ोन रख दिया. पारा ने उसे बताया था कि भारत में लोग बड़े अजीब ढंग से शोक प्रकट करते हैं; छाती पीट-पीट कर वे आँखे मलते हुए ज़ोर ज़ोर से रोते हैं और बेहोशी का नाटक करते हैं, कई परिवारों में तो गा-गाकर शोक मनाया जाता है. तकिए से अपने कान-आँख कान बंद किए सैम को ऐसा आभास हुआ कि उसने बेकार में ही उन्हें फ़ोन किया; इस संसार में अब उसका कोई नहीं.

फिर तो भोपाल से रोज़ फ़ोन आने लगे कि सैम कैसा था, माँ-पिता का क्रिया-क्रम ठीक से हुआ था कि नहीं; उनके फूलों का क्या हुआ, अकेले वह जीवन की नैय्या कैसे खे रहा था, वह भोपाल क्यों नहीं आ जाता आदि आदि. सैम की मुसीबत यह थी कि वह हिन्दी बोलने में ज़ीरो था. उसके माँ-बाप ने सैम को एक मँहगे प्राइवेट स्कूल में शिक्षा दिलवाई थी ताकि वह अमरीकियों की तरह अँग्रेज़ी बोल सके. वे गर्व से झूम झूम जाते थे जब उनका इकलौता बेटा अमरीकियों से अँग्रेज़ी में बात करता था. आपस में वे हिन्दी बोलते थे किंतु सैम से वे अपनी टूटी फूटी अँग्रेज़ी में ही वार्तालाप किया करते थे.

सैम को पारा अथवा शराब में कोई दिलचस्पी नहीं रही थी किंतु पारा का और कौन था जो उसे मुफ़्त में शराब पिलाता; कबाब खिलाता? घर ख़ाली देखकर उसकी तो मौज ही हो गई किंतु चाचा-चाची के फ़ोन आते तो वह झींक उठती. 'ब्लडी लीचेस, वाए डोंट यू टेल देम टु फ़क ऑफ़...'

'वाए डोंट यू फ़क ऑफ़.' सैम कुछ अच्छे मूड में नहीं था. गुस्से में पारा ने बोतल दरवाज़े पर दे मारी और फिर दरवाज़े पर अपनी सारी भड़ास निकालती हुई सैम के जीवन से सदा के लिए चली गई. अपराध-भावना से तो सैम पहले से ग्रस्त था ही कि माँ-बाप के जीते-जी उसने उन्हें कितने दुख दिए और अब वह चाहे कितना भी पछतावा करे, वे तो देखने आने से रहे. वह अपने को इतना अभागा महसूस कर रहा था कि एक सुबह उसके दिमाग़ में आया कि क्यों न वह आत्महत्या कर ले! अपने पिता की पिस्तौल निकाल कर वह अपने को तैय्यार कर ही रहा था कि शान-अंकल उसे साप्ताहिक हिसाब-किताब दिखाने के लिए आए. एक वही थे जो बिना कुछ कहे-सुने उसकी दुखती रगों पर जैसे मरहम रख देते थे. 'बख़ुरदार, आज या कल, आपको अपने कारोबार की कमान तो सम्भालनी ही होगी; आपका दिल भी बहल जाएगा. हम चाहते हैं कि सबसे पहले आप अपने माँ-बाप के फूल गंगा में बहा कर आएँ ताकि उनकी रूहों को सुकून मिले.' पिस्तौल को नज़रन्दाज़ करते हुए शान अंकल बोले थे. अपने दोस्त के इंतकाल से उन्हें भी बहुत सदमा पहुँचा था किंतु उनकी पनीली आँखें मानो मुस्कुरा कर उसे हौसला दे रही थीं.

'ओनलि इफ़ यू कम विद मी, शान अंकल.' सैम ने उनकी बात झट मान ली; शायद हरिद्वार जाकर ही उसे शांति नसीब हो. बेचारे चाचा-चाची की भी बात रह जाएगी जो उसके लिए सचमुच परेशान थे.

'काश कि यह सबाब हमें मिल सकता, बख़ुरदार, पर हम हिंदु रस्मों-रिवाज़ से बिल्कुल वाकिफ़ नहीं हैं. हमारी हिदायत तो यही होगी कि आप अपने चाचा-जान को साथ लेकर जाएँ, उन्हें भी तो सुकून की ज़रूरत होगी.' शान-अंकल ने सैम से नम्बर लेकर भोपाल फ़ोन मिलाया. शोक-ग्रस्त चाचा और चाची बेताब थे जानने के लिए कि हुआ क्या था. शान अंकल ने दुर्घटना के बारे में उन्हें तफ़सील से बताया और फिर उन्हें सैम से हरिद्वार में मिलने की गुज़ारिश की.

हरिद्वार पहुँचकर भी सैम एक पर-कटे पंछी की तरह फड़फड़ाता रहा. अपना सिर मुंडवाने में सैम ने आनाकानी की तो चाचा ने उसकी हौसला-अफ़ज़ाई के लिए अपना सिर भी मुंडवा लिया. सैम का मन हो रहा था कि गंगा में डूबकर वह बस अपने प्राण दे दे; चाचा से उसका दुख देखा नहीं जा रहा था. उन्होंने जल्दी-जल्दी सारी रस्में निपटवा दीं और अगली सुबह ही वे भोपाल के लिए रवाना हो गए. ट्रेन में भी सैम अधमरा सा पड़ा रहा, चाचा के बार-बार आग्रह करने के बाद उसने बस थोड़ी सी कॉफ़ी पी ली.

'भैय्या-भाभी की बस यही निशानी बची है हमारे पास; इसे हमें हर हालत में ख़ुश रखना है.' चाचा की आज्ञानुसार बेचारी चाची दिन रात सैम के आगे-पीछे घूम रहीं थीं किंतु सैम था कि मुस्कुरा के भी राज़ी नहीं था. मुश्किल यह थी कि सैम की हिन्दी कमज़ोर थी और चाचा-चाची की अँग्रेज़ी. सैम की अँग्रेज़ी अनंत और उसकी पत्नी मीरा के भी पल्ले नहीं पड़ रही थी; चाचा-चाची को अपने ही बेटा-बहू की शिक्षा पर संदेह होने लगा था, 'इतना पढ़-लिख के भी तुम दोनों ने बस भाड़ ही झोंकी.' घर में सब हैरान और परेशान थे, उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि वे क्या करें.

'तुमने अभी तक शादी क्यों नहीं की? अब तक तो तुम्हारे बाल-बच्चे हो जाने चाहिए थे.' मौका पाते ही चाची ने सैम से पूछा. पारा उसे जता चुकी थी कि दुनिया की कोई भी लड़की सैम के साथ सुखी नहीं रह सकती थी, वैसे भी अमेरिका में 35-40 वर्ष से पहले विवाह के बारे में कोई नहीं सोचता.

'ब्याह को राज़ी हो तो हम तुम्हारे लिए लड़की देखें.' चाची ने पूछा तो सैम को लगा कि उन्हें कोई और काम-धन्धा नहीं था क्या? उसे अनमना देख चाचा ने इशारे से चाची को चुप तो करवा दिया किंतु मन ही मन वह तय कर चुकी थी कि सैम की शादी तो वह करवा के ही दम लेगी; जेठ-जेठानी की आत्माओं को शांति पहुँचाने का मानो उन्हें ठेका मिल गया था.

एक पूरा हफ़्ता सैम अपने कमरे में लेटा छत और दीवारें ताकता रहा. चाचा-चाची, अनंत और मीरा सब के सब सैम की टहल के लिए एक टाँग पर खड़े थे किंतु उसे लग रहा था कि वे सब उसकी निजी ज़िन्दगी में हस्तक्षेप कर रहे थे. उसे भूख नहीं होती तो भी उसकी थाली में चाची रोटियाँ धरे चली जातीं, 'खाओ-खाओ' का ऐसा शोर मचा रहता जैसे उनके जीवन का एकमात्र ध्येय केवल भोजन हो. कभी लस्सी तो कभी जूस लिए मीरा जब तब उसके सिर पर आ ख़ड़ी होती तो वह बिफ़र उठता किंतु सैम यह भी जानता था कि अमेरिका में उसका ऐसा बर्ताव कोई एक दिन भी नहीं बर्दाश्त करता.

मीरा सैम को अच्छी लगती थी; उसकी अँग्रेज़ी भी ठीक-ठाक ही थी. वह चाचा-चाची की सब बातें समझ जाता था किंतु हिंदी में जवाब देना उसके लिए कठिन था. हँसी-हँसी में मीरा उसकी हिन्दी सुधारने लगी तो सैम भी उसका उच्चारण ठीक करने लगा. धीरे-धीरे न जाने कब वह परिवारजनों से खुलने लगा, विशेषतः मीरा और उसके चार-वर्षीय पुत्र शशांक से, जिसके साथ वह घंटो खेलता रहता या फिर उसे लेकर वह लम्बी सैर को निकल जाता; शंशाक के अटपटे प्रश्न उसका घंटों मनोरंजन करते.

इसी बीच शहडोल में चाची की भतीजी पुष्पा का विवाह तय हो गया; वे सभी निमंत्रित थे. अनंत-मीरा और शशांक शहडोल के लिए दो दिन पहले ही निकल चुके थे. चाचा-चाची सैम को अकेला छोड़कर जाने को तैय्यार न थे. बिना शशांक के सैम का भी मन नहीं लग रहा था. मैनहैट्टन में माँ सैम को ज़बर्दस्ती हिन्दी फ़िल्में दिखाने ले जाया करती थीं; जिनमें विवाहों के अवसर पर मचने वाले धमाल से वह अच्छी तरह से वाकिफ़ था. उसका मन भी गाँव की शादी देखने का हो आया; चाचा-चाची की तो बाँछें ही खिल गईं.

रेलगाड़ी से यात्रा करने की बजाय सैम ने कार से जाने की सोची ताकि वह जब चाहे वहाँ से खिसक कर भोपाल वापिस आ सके. भोपाल से शहडोल का सफ़र क़रीब दस घंटों का था और रास्ते के लिए चाची पूरी रसोई साथ में ले जाना चाहती थीं ताकि रास्ते में सैम को किसी चीज़ की कमी महसूस न हो.

'तुम्हारी चाची भी न...' कहते हुए चाचा ख़ुशी-ख़ुशी सामान कार में रख रहे थे. पानी से भरी सुराही को किसी तरह डिक्की में टिकाते वक्त ड्राइवर और चाची के बीच तू-तू मैं-मैं हो रही थी. चाची की सनक और ऐसी ही छोटी-छोटी हठें सैम को अब अच्छी लगने लगी थीं.

शहडोल पहुँचकर सैम का मन कुछ शांत हुआ. वही सब जो उसने माँ के बनाए चित्रों में देखा था - पनघट पर पानी भरती हुई रंग-बिरंगे कपड़े पहने औरतें, झूले पर झूलती नटखट बालिकाएँ, नहर में नहाते नंग-धड़ंग बच्चे और सजे-धजे मर्द, जो हाथ हिलाए बिना आराम से पड़े मस्ती कर रहे थे और फिर भी उनकी ख़ूब ख़ातिर हो रही थी. सैम मुस्कराया; बच्चू अमेरिका में होते तो नानी याद आ जाती; काम भी सम्भालते और डाँट भी खाते.

सुबह पक्षियों के शोर से सैम की नींद खुली तो वह अँगड़ाई लेता हुआ उठ बैठा और उसके उठते ही पूरी हवेली में काम-धन्धा शुरु हो गया. पूरा परिवार उसके ब्रश करने का ही इंतज़ार कर रहा था; फटाफट चाय नाश्ता लगा दिया गया. शुक्र था कि उसके लिए चीनी और दूध अलग से रखे गए थे. खाने-पीने से बचने के लिए वह हवेली से बाहर निकल आया. सामने एक ख़स्ता हाल छप्पर के नीचे नन्हे-मुन्ने बच्चे पहाड़े रट रहे थे और उनकी अध्यापिका थी एक सत्तरह-अट्ठारह बरस की युवती, जो सैम को देखकर झटपट बाहर आ गई. 'हाउ वाज़ यौर टी, सर?' उसने पूछा. ओह तो सुबह की चाय का इंतज़ाम इस समझदार लड़की ने किया था. सैम को अच्छा लगा कि वह किसी से अँग्रेज़ी में बात कर सकता था.

'थैंक्स, में गूमने को निकला. शेदोल में कुच देकने का है?' सैम ने अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में उससे पूछा.

अपनी हँसी दबाते हुए लड़की ने अपना परिचय दिया था. 'आस पास तो कुछ देखने को नहीं है पर कार से आप आसानी से अमरकंटक या बैकुंठपुर जा सकते हैं, नर्मदाजी के दर्शन भी हो जाएँगे.'

'नरमादा कौन हे?'

'नर्मदा एक नदी का नाम है. उनके दर्शन मात्र से आपके सब दुखों का निवारण हो जाएगा; शायद आप इन सब बातों में बिलीव नहीं करते होंगे. आप बांधवगढ़ नैशनल पार्क जा सकते हैं.'

'दिकाने को तुम मैरे सात चालोगी?'

'सौरी, मैं आपके साथ कहीं नहीं जा सकती,' कहते हुए सुप्रिया वापिस अपने छात्र-छात्राओं के पास लौट गई.

ऐसा सैम ने क्या कह दिया था कि उसे बुरा लग गया? शाम को बारात आने से पहले सुप्रिया फिर नज़र आई तो सैम उसके पास चला आया. शादी की तड़क-भड़क में एक वही थी जो सफ़ेद साड़ी पहने थी, किंतु फिर भी वह बहुत सुन्दर लग रही थी. घरातियों को हाथ जोड़े खड़ा देख सैम ने भी हाथ जोड़ दिए.

'आपको हाथ जोड़ने की ज़रूरत नहीं है. यू आर नौट ए घराती.' सुप्रिया सैम को घरातियों और बारातियों के विषय में बताने लगी तो सैम ने शुक्र मनाया कि वह उससे बात तो कर रही थी.

'बट दैट्स नॉट फ़ेयर.' सैम ने कहा.

'नथिंग इज़ फ़ेयर इन दिस वर्ल्ड.' सुप्रिया कुछ अशांत होते हुए बोली. सैम ने सोचा कि वह बड़ी अजीब लड़की थी, 'वेरी अनप्रैडिक्टेबल'.

तभी बारात आ गई; बारातियों के नख़रे ही नहीं मिल रहे थे. लोग तीन झुंडों में बँट गए थे; बाराती, घराती और तमाशाई, जिनमें भिखारी बच्चों की तादाद काफ़ी बड़ी थी. लम्बी चौड़ी उबाऊ रस्मों के बाद दूल्हा-दुल्हन ने एक दूसरे को वर-मालाएँ पहनाईं तो भीड़ में कुछ गर्मी आई. दूल्हा के दोस्तों ने उसे गोदी में उठा लिया तो उसके गले में वरमाला पहनाने के लिए छुटकी पुष्पा ने अपने हाथ ऊँचे किए किंतु वह दूल्हे के कन्धे तक भी नहीं पहुँची. उसकी सहेलियाँ कहीं से एक स्टूल उठा लाईं, जिसपर चढ़कर पुष्पा ने वर के गले में माला पहनाई.

सैम को लगा कि घरातियों के लिए कन्या के विवाह की रस्में छोटी छोटी पहाड़ियाँ थीं जिन्हें पार करते हुए वे लम्बी लम्बी साँसे भर रहे थे. किसी तरह बाराती जीम कर उठे तो घरातियों ने भगवान का लाख-लाख शुक्र मनाया. अब मेहमानों की बारी थी, जिनमें चाची का परिवार और सैम भी शामिल थे. वे अभी जीमने बैठे ही थे कि दूल्हा के मित्रों ने फ़ब्तियाँ कसनी शुरु कर दीं. सैम को कुछ समझ नहीं आ रहा था.

सैम के दोने में कढ़ी परोसी ही गई थी कि अचानक एक चप्पल उसकी पत्तल में आ गिरी, कढ़ी के छींटे उछल कर सैम की अचकन और पाजामें पर आ गिरे तो पुष्पा के पिता और भाई हाथ जोड़ते हुए सैम से माफ़ी माँगने लगे.
'यार, तेरी ससुराल में पकौड़ियों की जगह कढ़ी में क्या चप्पलें परोसी जाती हैं.' दुल्हा के मित्र भोंडे तरीक़े से हँस रहे थे.

'डज़्ंट मैटर, कोई बात नई.' तमतमाया हुए सैम को मीरा चुप रहने का संकेत दे रही थी.

'अबे चाट ली हो तो हमारी चप्पल तो वापिस कर दे.' दुल्हा के मित्र अब सैम से सीधे मुख़ातिब थे. सैम इतना समझ गया कि उसकी बेइज़्ज़ती की जा रही थी किंतु उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे. दुल्हन के पिता, भाई और अन्य घराती हाथ जोड़े हुए बीच-बचाव करने में लगे थे.

तभी एक मरगिल्ला-सा फटेहाल बच्चा भीड़ में से निकलकर सैम की ओर आया और कढ़ी से सनी चप्पल उठाकर चाटने लगा. चप्पल चाटकर उसने बारातियों की ओर फेंक दी और फिर वह सैम की पत्तल में रखे खीर से भरे दोने को उठाकर भागा. बहुत से भिखारी बच्चे उसपर टूट पड़े. उसकी फटी कमीज़ और बदन पर खीर फैल गई थी, जिसे वह जल्दी जल्दी चाटने में लगा था. मधु-मक्खियों से अन्य भिखारी बच्चे भी उसकी कमीज़ और बदन पर लगी खीर चाट रहे थे.

चप्पलें, जूते और छड़ियाँ घुमाते घराती उद्दंड भिखारियों को खदेड़ने में लगे थे. तभी एक फटेहाल औरत भिखारियों से घिरे बच्चे की कमीज़ उतार कर उसे पीटने लगी. बच्चे पर पिटने का कोई असर नहीं हुआ; अपनी ढीठ आँखों में आशा की एक ज्योति लिए वह अब भी बारातियों की ही ओर देख रहा था कि उनमें से फिर कोई जूता या चप्पल फेंकें तो शायद आज उसका पेट भर जाए.

मन ही मन सैम परेशान था कि तथाकथित प्रगतिशील भारत के बच्चे इतने भूखे कैसे रह गए थे? अमेरिका में अपनी माँ के साथ जो भारतीय सीरियल्स वह देखता था; उनमें तो बच्चों की कुछ और ही तस्वीर पेश की गई थी.

सैम ने खड़े होकर अपनी पत्तल उठाकर उस बच्चे को देनी चाही ताकि वह औरत उसे पीटना बंद कर दे. ढेरों बच्चे लपकते हुए आए और पत्तल पर टूट पड़े. सैम को उबकाई आने लगी; चाचा सैम को घसीटते हुए घर के अन्दर ले गए. रात भर सैम उस घटना को लेकर परेशान रहा. अल्ल-सुबह बीन की आवाज़ सुनकर वह खिड़की से झाँकने लगा. विदा हो रही थी. औरतें ज़ोर-ज़ोर से रो-गा रही थीं; सैम को यकायक पारा याद आई, जो इस वक्त शराब में धुत्त शायद किसी के साथ सोई पड़ी होगी.

सैम की बची-खुची रात करवटें बदलते निकली; चाहे उसे पीट ही क्यों न रही थी, उस भिखारी बच्चे के पास उसकी माँ तो थी. सैम के पास सब कुछ होते हुए भी कुछ न था. उसके माँ-बाप ने उसे क्या नहीं दिया; स्वस्थ शरीर, शिक्षा और धन किंतु स्वयं उसने क्या हासिल किया? माँ-पिता के समझाने बुझाने के बावजूद उसका दिमाग़ न तो व्यवसाय में लगा और न ही वह उच्च-शिक्षा हासिल कर सका. फिर भी उनकी केवल एक ही इच्छा थी कि वे अपने पोता-पोती की शक्ल देखकर ही मरें. जिस शाम को उनकी कार-दुर्घटना में मृत्यु हुई, वे सैम के लिए ही एक लड़की देखने कैलिफ़ोर्निया जा रहे थे. ऐन वक्त पर सैम ने उनके साथ जाने से इंकार कर दिया था.

'समीर बेटा, यौर डैड हैज़ हाइ ब्लड-प्रेशर. ही शुड नौट ड्राइव.' माँ ने कहा भी था किंतु उस समय सैम को यही लगा था कि उसे साथ ले जाने के लिए माँ उसे ब्लैकमेल कर रही थीं. उनके साथ जाता तो शायद वो दुर्घटना न होती अथवा वे तीनों ही मारे जाते.

'समीर बेटा, तुझे सुप्रिया कैसी लगी?' सुबह-सुबह चाची पास आ बैठीं. अब तक वह सैम से कई नवयुवतियों के बारे में पूछ चुकी थीं, जो विवाह के घर में चहकती हुई घूमती रहती थीं.

'सूपीरिया अबी बच्ची है.' अपने हिन्दी बोलने की तारीफ़े सुन-सुनकर सैम की हिम्मत बढ़ गई थी और वह अब हिन्दी बोलने से घबरा नहीं रहा था.

'बच्ची? इस बरस सुप्रिया पच्चीस बरस की हो जाएगी. सुन्दर है, पढ़ी-लिखी है, घर का सारा काम-काज जानती है. बाल-विधवा है तो क्या हुआ? तुम्हारे वहाँ तो इसे कोई बुरा नहीं मानता, हैं न?'

'वो बात नईं, में थर्टी का हूँ, चाची जी.'

'तो क्या हुआ? वैसे भी सुप्रिया से कोई और तो ब्याह रचाने से रहा. मुझे तो लगता है कि भगवान ने तुम्हें यहाँ उसी के लिए ही भेजा है.'

'पर वो मुजे पसन्द नई करती.'

'अरे, वो तो तुमसे कैसी मीठी-मीठी बातें करती रहती है, हमने क्या देखा नहीं?' आँखें नचाती हुई चाची उठ गईं तो सैम को लगा कि बिना सुप्रिया की पसन्द जाने कहीं चाची उस बेचारी पर यह विवाह थोप ही न दें. उसे सुप्रिया पसंद थी किंतु अमेरिका जाने के लिए शायद वह तैय्यार न हो और तैय्यार हो भी जाए तो क्या वह वहाँ के समाज में खप पाएगी. उसे पारा की याद आई, शायद वह सुप्रिया की मदद करे. नहीं नहीं, पारा को सुप्रिया से दूर ही रखना होगा. कैसी बद्तमीज़ी से बात करती है, विशेषतः भारतीयों के बारे में उसकी भावनाएँ कठोर हैं. शायद सुप्रिया को बच्चे पसन्द न हों, जो माँ-बाप की मृत्यु के बाद अचानक सैम के लिए बहुत आवश्यक हो गए थे. कितने ही सारे प्रश्न थे जो सैम के दिमाग़ को परेशान किए थे किंतु बार-बार जो उसके मन में घूम रहे थे, वे थे छीना-छपटी में लगे भूख से व्याकुल भिखारी बच्चे, विशेषतः वह बच्चा जिसने कढ़ी से लिपटी चप्पल तक को चाट डाला था.

सारा दिन खेत में बैठे-बैठे सैम ने आख़िर तय कर ही लिया कि वह गाँव के सभी भिखारी बच्चों की परवरिश करेगा. भोजन के लिए ही छीना-छपटी करते रहे तो जीवन में वे और क्या हासिल कर पाएँगे? यकायक उसे लगा कि जैसे उसे जीवन का उद्देश्य मिल गया हो; एक बड़ा बोझ उसके दिमाग़ से उतर गया था. उसे लगा कि उसके माँ और पिता उसके इस संकल्प से ख़ुश थे. उसके पिता कहा करते थे कि मुहिम चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, एक सिरे से

बस जुटने भर की देर है, कहीं न कहीं तो उसका दूसरा सिरा मिल ही जाएगा. एक पराए देश में जाकर उसके माँ-बाप ने जब दो सुपर-स्टोर्स खड़े कर लिए तो क्या वह कुछ बच्चों की परवरिश भी नहीं कर पाएगा? उसकी नसों में भी तो उन्हीं का ख़ून बह रहा था. सामने से सुप्रिया को आते देख वह मुस्कुराने लगा.

'विल यू मैरी मी, सूपरिया? मुझसे शादी करोगी? बेफ़िक्री के अंदाज़ में सुप्रिया से पूछा जो मुँह फाड़े उसे निहार रही थी. भारतीय सीरियल्स के ये संवाद सैम ने कई बार सुन रखे थे. 'सूपरिया, बौत सोच के मुजे बताना बिकौज़ मैं उन सब पुअर बच्चा लोग को एडौप्ट करना चाता हूँ.' बिना किसी लाग-लपेट के सैम ने अपने मन की बात सुप्रिया को बता दी क्योंकि उसे पूरा विश्वास था कि चाहे सुप्रिया विवाह से इंकार कर दे; इस मुहिम में उसका साथ अवश्य देगी.

ग़ज़ल

नरेश शांडिल्य

ये चार काग़ज़, ये लफ्ज़ ढाई
है उम्र भर की यही कमाई

किसी ने हम पर जिगर उलीचा
किसी ने हमसे नज़र चुराई

दिया ख़ुदा ने भी ख़ूब हमको
लुटाई हमने भी पाई-पाई

न जीत पाए, न हार मानी
यही कहानी, ग़ज़ल, रुबाई

न पूछ कैसे कटे हैं ये दिन
न माँग रातों की यूँ सफाई

जब समाज को ऊँचा देखना होता है, तो वह साहित्य की ओर देखता है – डॉ. नरेंद्र कोहली

साक्षात्कार : प्रस्तुतकर्ता

डॉ. राजेश कुमार

डॉ. नरेंद्र कोहली का नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है। व्यंग्यकार, कथाकार, नाटककार, बाल-साहित्यकार और समीक्षक के रूप में डॉ. कोहली साहित्य जगत् में एक जाना-माना नाम है। रामकथा के लेखक के रूप में उन्हें विशेष रूप से ख्याति मिली है।

डॉ. राजेश वुफमार ने उनसे उनके जीवन और साहित्य के बारे में अंतरंग बातचीत की, जिसमें से अनेक बातें पाठकों के लिए सर्वथा नवीन हैं। प्रस्तुत हैं, बातचीत के कुछ अंश....

डॉ. राजेश: रामकथा साहित्य की शताब्दियों पुरानी परंपरा में आपके लिए कौन-सा साहित्यिक ग्रंथ सर्वाधिक मूल्यवान है और क्यों?

डॉ. कोहली: रामकथाएँ इतनी तरह से इतनी भाषाओं में, इतनी जगह लिखी गई हैं कि मैं यह दावा भी नहीं कर सकता कि मैंने वे सब पढ़ी हैं। जो पढ़ी हैं, उनमें से मुझे सबसे अधिक प्रिय बाल्मीकि रचित रामायण ही है, तुलसी से भी ज़्यादा। एकमात्र नाम लेना हो, तो वह मैं बाल्मीकि का ही लूँगा। मानव चरित्र को जितने स्वाभाविक रूप से उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह अतुलनीय है। उनकी मूल प्रतिज्ञा थी कि भगवान की ओर से मुझे जो छंद मिला है, जो इतनी अच्छी चीज़ मुझे मिली है, इतना श्रेष्ठ उपकरण उसमें मैं संसार के सबसे अच्छे चरित्र को चित्रित करूँगा। यह संसार के सारे कवियों, लेखकों, साहित्यकारों और कलाकारों के लिए एक संदेश है कि भगवान ने जो प्रतिभा दी है, उसका सदुपयोग होना चाहिए, उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। नारद के वर्णन के अनुसार उन्होंने राम के चरित्र को चित्रित किया। किंतु यह मानवीय चरित्र है। पत्नी के अपहरण पर दुखी होते हैं, भाई के अचेत होने पर विलाप करते हैं, इत्यादि। यह सारा व्यवहार मानवीय व्यवहार के अनुकूल है, इसलिए सारी आध्यात्मिकता के बावजूद वह मानव स्वभाव के बहुत निकट है। तुलसी पर मैं मुग्ध भी हूँ और क्षुब्ध भी। मुग्ध होने के बहुत कारण हैं। काव्य बहुत अच्छा है, सारे शास्त्रों का निचोड़ इतने सहज रूप से एक ग्रंथ में दे दिया जाए, यह तुलसी का ही चमत्कार है। लेकिन मेरे भीतर का उपन्यासकार उनकी बहुत सारी चीजों से सहमत नहीं है। काव्य पर मुग्ध होता हूँ तो कथानक पर क्षुब्ध होता हूँ। कुछ चरित्र ठीक नहीं लगते, कुछ घटनाएँ ठीक नहीं लगतीं। मेरा विचार है कि कोई भी सृजक या सजग साहित्यकार दूसरे से पूर्णत: सहमत नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अपने भीतर जिस रूप का सृजन हो रहा है, वह उसी को सच मानेगा। हर माँ के लिए वही बच्चा सबसे प्रिय और सबसे सुंदर होता है, जिसको उसने स्वयं जन्म दिया है। वैसे मैं अपने इन पूर्वज साहित्यकारों को अपने आप से बहुत महान मानता हूँ। यह नहीं है कि मैं अपनी तुलना उनसे कर रहा हूँ, उस परंपरा में होने के कारण कहीं-न-कहीं थोड़ा मतभेद हो जाता है, अन्यथा सर्वश्रेष्ठ तो मैं बाल्मीकि को ही मानता हूँ ।

डॉ. राजेश: लेखक के रूप में आपको रामायण के कथानक में क्या आकर्षित करता है?

डॉ. कोहली: भई मेरे साथ तो यह हुआ कि जब मैंने रामकथा को, या कहो कि 'मानस' को कई बार पढ़ा, तो उसके प्रभाववश मेरे भीतर एक नई रामकथा अपने-आप आकार ग्रहण करती चली गई। जब लेखक के मन में यह प्रक्रिया घटित होती है तो वह नहीं सोचता कि उसमें क्या आकर्षण है, उसमें क्या नया है या क्यों मैं इसके विषय में सोच रहा हूँ। उसके मन में मनन हुआ, मंथन हुआ और उस कथा की एक नई आकृति आपके सामने प्रकट हुई है। मुझे लगता है कि जिन माध्यमों से मैं रामकथा तक गया, वह काफी लंबी प्रक्रिया थी। लेकिन यह कहूँ कि मैं क्योंकि असहाय हूँ, मैं जिस समाज में हूँ, उस समाज में मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। शासन होते हुए भी नियम नहीं हैं। समाज में अराजकता है। उस कारण से राम का चरित्र आकृष्ट करता है। विश्वामित्र के पास भी कोई नहीं था, तो वे राम के पास

गए। उसी तरह से जब 1971 में बांग्लादेश में बुद्धिजीवियों को जानबूझकर सामूहिक रूप से मारा गया, ताकि बांग्लादेशी जन सामान्य को बौद्धिक नेतृत्व न मिल सके, तो हमारे सम्मुख स्पष्ट होता है कि ऋषियों को क्यों मारा जा रहा था, क्यों खाया जा रहा था, क्योंकि वे पिछड़े हुए असहाय लोगों को बौद्धिक नेतृत्व दे रहे थे। सोने की लंका के पास धन है, संपत्ति है, सेना है और एक ऐसा राजा है, जो अपनी शक्ति के बल पर दूसरों का सब कुछ छीनने के लिए तैयार बैठा है। अन्य महाशक्तियाँ भी यही कर रही हैं, आज तो एक ही महाशक्ति रह गई है, कुछ समय पूर्व दो थीं- रूस और अमरीका। रामकथा में भी महाशक्तियाँ हैं, एक ओर देवशक्ति है, दूसरी ओर राक्षसशक्ति। जो सामान्य मानवता है, जो पिछड़े हुए देश हैं, जो छोटे देश हैं, जो कमजोर देश हैं, उन लोगों से सब कुछ छीना जा रहा है। हमारी परंपरा की मान्यता है कि महान् वही है, जो सामान्य मानवता के साथ अपने आपको जोड़ ले। वह जनता का उत्थान करता है और मनुष्य का, साधारण जनता का विश्वास कभी समाप्त नहीं होता। इसलिए चाहे हम शिवाजी को लें, राणा प्रताप को लें, गुरु गोविंद सिंह को लें, माओत्से तुंग को लें, लेनिन को लें, हो ची मिन्ह को लें, गाँधी को लें-यही देखते हैं कि उन्होंने अपने आपको अति-साधारण जन के साथ जोड़ा और उसके विकास का प्रयत्न किया। राम ने भी वही किया। वानर-भालुओं में जाकर जो आदमी बैठ गया, जिनको आप मनुष्य तक नहीं मान रहे हैं, उन लोगों के बीच बैठ गया, और भाइयों की तरह उन लोगों के बीच चौदह वर्ष काटे। उनके साथ खाया-पिया, उनके साथ रहे। उनसे मैत्री की, उनसे सहायता ली, उनकी सहायता की। उनका उत्थान किया। इस तरह से मानवता की विजय का जो बिगुल बजता है, मुझे लगता है कि वह किसी भी देश की जनता के लिए आवश्यक है। यही मुझे प्रिय भी है।

डॉ. राजेश: क्या रामायण के कथानक में ऐसा कुछ है, जो लेखक के लिए प्रस्तुत करना एकदम असंभव है?

डॉ. कोहली: नहीं, मैं यह नहीं मानता कि उसमें कुछ भी ऐसा असंभव है। यह इस पर निर्भर करता है कि लेखक की अपनी क्षमता, प्रतिभा कितनी है। मुझे कई लोगों ने यह कहा कि बड़े चरित्रों का निर्माण कठिन होता है। पर मैंने स्वयं राम के विषय में लिखा है, इसलिए मैं यह कैसे मान लूँ। ठीक है कि उनका जो चरित्र तुलसीदास ने बनाया वह मैं नहीं बना पाया। उसका कारण यह नहीं है कि लेखक की क्षमता कम है, बल्कि यह है कि उनको जो दिव्यानुभूतियाँ हुई हैं, उनकी भक्ति जिस सीमा तक गई, मेरी भक्ति इस सीमा तक नहीं गई। मैं लेखक बना रहा, भक्त होकर मैंने नहीं लिखा है, लेखक होकर लिखा है। तो उस दृष्टि से मुझे लगता है कि मूल चीज़ यह है कि लेखक की प्रतिभा किस कोटि की है। उसकी प्रतिभा उत्कृष्ट कोटि की है, तो कुछ भी असंभव नहीं है। क्योंकि मैंने विवेकानंद जैसे पात्र के विषय में भी लिखा है और लिख रहा हूँ। मैंने युधिष्ठिर और कृष्ण के विषय में भी लिखा है। मुझे ऐसा नहीं लगता है आप उनके साथ तादात्म्य नहीं कर सकते। यह ठीक कि दिव्यानुभूतियाँ होना, इंद्रियातीत अनुभूतियाँ होना एक अलग चीज़ है, जो मुझे नहीं हुई पर जिसको हम लेखकीय प्रतिभा कहते हैं, जो साधरणीकरण करती है और जो मधुमती भूमिका तक जाती है, यदि वहाँ तक आपकी एकाग्रता जाती है, तो आप सब कुछ देख सकते हैं।

डॉ. राजेश: आपके विचार में रामायण विदेशों में इतनी लोकप्रिय क्यों है, जबकि अन्य ग्रंथ जैसे कि महाभारत इतने लोकप्रिय नहीं हैं?

डॉ. कोहली: इसके अनेक कारण हो सकते हैं। मुझे लगता है कि भारत के बाहर रामकथा का आध्यात्मिक रूप कम गया है, सामाजिक और नाटकीय रूप अधिक गया है। हमारे यहाँ हनुमान बाल ब्रह्मचारी हैं, और उनकी संतानें भी हैं। उन लोगों ने रामकथा का कलात्मक रूप 'नाटक' अथवा 'कथा', जो सामाजिक महत्व की चीजें हैं – ग्रहण किया है। रामकथा को उन देशों में कलात्मक लोकप्रियता मिली। रूस में यह उतनी लोकप्रिय नहीं है, लेकिन अनेक मनीषियों ने रामकथा को पढ़ा-वारान्निकोव या इस तरह के और लोग भी हैं। उन लोगों ने उसके उस गुण को समझा और मुझे लगता है कि उनके अंदर भी कहीं-न-कहीं भारतीय आत्मा, आध्यात्मिकता थी, इसलिए उन्होंने रामायण को उस रूप में देखा। महाभारत, रामायण से बहुत अधिक जटिल ग्रंथ है, विराट भी है। रामायण में जो आदर्श हैं, वे बहुत साफ-सुथरे और स्पष्ट हैं। किसी भी व्यक्ति के हाथ में आप रामकथा या रामायण दें, तो कोई संकट नहीं है। लेकिन महाभारत में बहुत सारी चीजें इस तरह की हैं, जो संकट पैदा करती हैं। श्रीकृष्ण या युधिष्ठिर का चरित्र लें, तो मुझे

लगता है कि भारत में ही लोगों को उनको समझने में बहुत कठिनाई होती है। धर्मराज युधिष्ठिर जुआ क्यों खेल रहे हैं? लोग उनको व्यसनी मान रहे हैं, उनको गालियाँ दे रहे हैं। एक तरफ उनको धर्मराज मान रहे हैं, दूसरी तरफ उनको गालियाँ दी जा रही हैं। पाठक समझ नहीं पाते कि उनमें जुआ खेलते समय धर्म कहाँ था? उसी तरह से श्रीकृष्ण को लेकर उनकी चतुराई की, यह शब्द शकुनि के लिए उपयुक्त हो सकता है श्री कृष्ण के लिए नहीं और दूसरी चीजों की जो चर्चा सामान्य जन बहुत रस लेकर करता है, वह उनके अलौकिक चरित्र के विरुद्ध पड़ती हैं। वे चरित्र ऐसे हैं, जिनको बहुत सात्विक लोगों के हाथ में जाना चाहिए। स्वामी विवेकानंद ने कहा कि गंदे हाथों से चरणामृत नहीं लिया जा सकता। इसलिए सांसारिक मन से आप कृष्ण के अलौकिक प्रेम को नहीं समझ सकते। यह चीज़ विदेशों में भी कठिनाई पैदा करती होगी। भारत में ही जब इतनी बड़ी बाधा है, तो विदेशों में कठिनाई होना स्वाभाविक है। महाभारत कथा के रूप में चाहे कितना भी प्रसिद्ध हो, किंतु भारत में भी वह रामकथा के समान घर-घर में लोकप्रिय नहीं है। यहीं नहीं है, तो विदशों में तो और भी जटिलताएँ होगीं। उसके जो विभिन्न रूप हैं, वे और परेशान करते हैं कि भई कहाँ वह आध्यात्मिक हो गया और कहाँ... अब उसमें गीता जैसा ग्रंथ आ गया, जो शुद्ध रूप से आध्यात्मिक है और फिर गीता को लेकर भी मतभेद हुआ। वह नैतिक ग्रंथ है या धार्मिक? वह समाजशास्त्र के अंतर्गत आएगा, मनोविज्ञान का ग्रंथ माना जाएगा अथवा वह अध्यात्म का ग्रंथ है और महाभारत में चरित्रों की भरमार है। इतने तरह के चरित्र, इतने विराट...। मुझे लगता है कि उसको सँभालना बहुत मुश्किल है। हमारे यहाँ भी महाभारत... संपूर्ण महाभारत, को लेकर कितने ग्रंथ लिखे गए? अगर उस साहित्य का सर्वेक्षण किया जाए, तो बात सामने आएगी। छोटे-छोटे तो बहुत तरह के, बहुत सारे ग्रंथ हैं, किन्तु महाभारत की संपूर्ण कथा को लेकर बहुत कम लिखा गया है और जिन चरित्रों को लेकर लिखा भी गया है, वहाँ भी यदि उन चरित्रों को समझे बिना, अपने मन से वे चरित्र रचे गए हैं... विदेशों में बहुत ज़्यादा संकट होगा ही।

डॉ. राजेश: क्या आधुनिक पाठक के लिए इसे समझना बहुत कठिन है?

डॉ. कोहली: हाँ, एक दृष्टि से यह हो सकता है कि आधुनिक पाठक बहुत सारी चीजें अपने युग की चाहता है, वे सांसारिक चीजें हैं और आध्यात्मिक सफलता है, वह सांसारिक पतन है। अब अगर यह कहा जाए कि राम को अपनी पत्नी सीता का पक्ष लेना चाहिए था, उनको स्वयं से दूर नहीं करना चाहिए था, चाहे वे अयोध्या का राज्य छोड़ देते, तो यह सांसारिक दृष्टि है, स्वकेन्द्रित दृष्टि है और जो आध्यात्मिक दृष्टि है, वह न्याय के लिए स्वजन निष्ठुर है। पक्षपात् के लिए कोई स्थान नहीं है वहाँ। अपने लोगों, जिनसे स्नेह संबंध है, जिनसे हमारा राग है, उनके प्रति निष्ठुर होकर, उदासीन... उत् आसीन होकर ऊपर बैठकर... न्याय करना और अपने पराए का भेद नहीं होना..। यह सात्विक दृष्टि है। यह जानते हुए भी कि सीता निर्दोष हैं, यह जानते हुए भी कि वे कष्ट में होंगी, राम न्याय की प्रक्रिया में पक्षपात् नहीं कर सकते। सीता के प्रति कोमल नहीं हो सकते। स्वयं राम रात भर सोए नहीं, रोते रहे, चांदी-सोने के बर्तनों में खाना नहीं खाया, जमीन पर सोए, इत्यादि... प्रत्येक कष्ट सहते हुए भी, राजा को इतना आदर्शवादी होना चाहिए कि राज-परिवार के किसी व्यक्ति पर छोटे-से-छोटा आक्षेप भी लगे तो उसको सत्ता के केंद्र के निकट होने का कोई लाभ न लेने दे। न्याय प्रक्रिया का आदर्श तो आज भी वही है, किंतु स्त्रियों के विशेषाधिकार इत्यादि के जो आधुनिक नारे हैं, वे न्याय प्रक्रिया की उपेक्षा कर नारी के प्रति पक्षपात् देखना चाहते हैं। हम परंपरा से प्राप्त आदर्शों की अनदेखी कर, अपनी समकालीन बुद्धि को उन पर आरोपित करना चाहते हैं। यह समझने का प्रयत्न नहीं करते कि जिन लोगों ने वे आदर्श हमें दिए, उनके मन में क्या था।

डॉ. राजेश: आपको इस कथ्य पर उपन्यास लिखने का विचार क्यों आया? क्या उपन्यास लिखने के दौरान आपका मूल विचार परिवर्तित हुआ और यदि हुआ, तो वे किस तरह के परिवर्तन थे?

डॉ. कोहली: मूल विचार था। प्रारंभिक परिकल्पना थी कि महाशक्तियों से विशेष रूप से तो जनसाधारण ही टकरा सकता है। बस उसको नेतृत्व मिलना चाहिए। हमारे सामने एक बहुत बड़ा उदाहरण गाँधी का भी था, माओ त्से तुंग का भी... लेनिन का भी। हमारी अपनी परंपरा में हमने उसमें से राम को लिया। तो उस दृष्टि से जो मूलभूत विचार या

अवधारणा थी, वह वही रही। लिखने के दौरान उसमें बहुत कुछ जुड़ता जाता है, यानी आप यह मानकर बैठते हैं कि मैं पाँच पृष्ठ लिखूँगा और पता चलता है कि पचास पृष्ठ आपने लिख लिए हैं। नए चरित्र बन जाते हैं, नई परिस्थितियाँ बन जाती हैं, नए क्षेपक और घटनाएँ उसमें आ जाती हैं। उसका कलेवर बढ़ता जाता है। जो कलेवर मैंने सोचा था कि ढाई-ढाई सौ पृष्ठों के चार खंड होंगे, वह जाकर अठारह सौ पृष्ठों का उपन्यास बना। सृजन के स्वरूप का पहले किसी को पता नहीं होता।

डॉ. राजेश: क्या आपने उपन्यास में कोई वर्तमान सच्चाई पेश की है? वे कौन-सी सच्चाईयाँ हैं? क्या आपके चरित्रों या उनकी विशेषताओं का वास्तविक लोगों से कोई संबंध है?

डॉ. कोहली: जो मुख्य पात्र हैं, उनमें तो वह संभव नहीं है। जैसे लोग कहने को कहते हैं कि घर-घर में राम हैं, पर हजारों वर्षों में सारे संसार में एक राम खोजना मुश्किल होगा। जो साधारण पात्र हैं, छोटे-बड़े... भीरु अध्यापक हैं, जो एक मैं स्वयं ही हूँ, मतलब हम कोई बहुत वीर नहीं हैं। इसमें एक बात मैंने रखी है, 'दीक्षा' में... तुमने ध्यान किया हो तो, कि विश्वामित्र कहते हैं कि जो केवल चिंतन करता है वह कर्मशून्य हो जाता है, सोचता है करता नहीं है, जिसको मैन आफ थिंकिंग कहते हैं न, ही इज़ नॉट मैन ऑफ एक्शन। और दूसरी तरफ, जो मैन ऑफ एक्शन होता है, जो सोचता नहीं है वह राक्षस हो जाता है। इसलिए राम को उन्होंने कहा कि तुम मौलिक चिंतन करो और उसको कर्म में परिणत करो, तो तुम अवतार कहलाओगे। वह सोचता भी है, करता भी है, तो उस रूप या युग के वे छोटे-मोटे बहुत-सारे चरित्र हैं, जो मेरे आसपास बिखरे हुए हैं। उनको लिया गया, जैसे मैंने कहा कि अध्यापक तो हैं ही, लोभी लोग भी हैं। राजनीतिक नेता हैं, आपात्कालीन (भारत में तत्कालीन प्रधानमंत्री द्वारा 1975 में आपातकाल लागू किया गया था) परिस्थितियों में कोई डिक्टेटर किस तरह से व्यवहार करता है और उसके प्राण कैसे अपनी सत्ता से जुड़े होते हैं, उसका उदाहरण बाली है। उसको लगता है कि मेरी सत्ता गई, तो मेरे प्राण भी चले जाएँगे, इसलिए सुग्रीव को मार दो। और उन दिनों आपातस्थिति में जो अत्याचार हुए, मंत्री-पुत्रों ने किए। आरंभ बिहार की घटनाएँ हैं। राजपूत जमींदारों के बेटों ने, जो बहुत प्रभावशाली थे, केवटों के गाँव में, उनके घर में जाकर कहा कि अपनी स्त्रियाँ हमारे हवाले कर दो। आख़िर वे हैं किसलिए? और जब केवटों ने विरोध किया, तो उनको बाँधकर, जलाकर मार डाला गया और उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार करने के बाद उनके गुप्तांगों को तपती शलाकाओं से चिन्हित् किया गया। यह बाकायदा उन दिनों की घटना है। किसी पुलिस अधिकारी ने रपट नहीं लिखी, किसी डॉक्टर ने उनका इलाज़ नहीं किया। यह भारत के सारे मुख्य समाचार पत्रों में छपा। यह सारा का सारा प्रसंग सिद्धाश्रम में वैसा-का-वैसा उतरकर आया है, ऐसा बहुत कुछ है उसमें...

डॉ. राजेश: क्या आप अपने उपन्यासों पर पाठकों की प्रतिक्रिया से संतुष्ट हैं?

डॉ. कोहली: हाँ! संतुष्ट हूँ। मुझे इतने पाठक मिले हैं... इसको मेरा गर्व या अहंकार न समझा जाए, ये आँकड़े यदि इकट्ठे किए जाएँ... शायद ही किसी लेखक को इस तरह से इतने पाठक मिले हों। प्रबुद्ध पाठक। कई लोग कहते हैं कि गुलशन नंदा (हिन्दी के प्रसिद्ध सोप-लेखक) को भी बहुत पाठक मिले। लेकिन गुलशन नंदा की कोई किताब पच्चीस साल नहीं चली। किसी के अनुवाद नहीं हुए। किसी पर शोध नहीं हुआ। तो जो प्रबुद्ध पाठक, साहित्यिक पुस्तकें पढ़ने वाले जो लोग हैं, उनमें जितने पाठक मुझे मिले, और यहाँ तक हुआ कि जब सर्वेक्षण किया गया कि सबसे अधिक रॉयल्टी इस लेखक को मिलती है... तो उस दृष्टि से मुझे पाठक इतने ज़्यादा मिले हैं...रॉयल्टी का अर्थ होता है कि प्रकाशक... जो यह मानने को राजी नहीं होता कि किताब बिकती है... वह प्रकाशक कह रहा है कि हाँ भैया किताब बिकती है और रॉयल्टी दे रहा हूँ, अगली किताब मुझे दो। इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा? उस रूप में पाठकों से तो मैं बिल्कुल संतुष्ट हूँ, उसमें मुझे कोई शिकायत नहीं है...

डॉ. राजेश: क्या आप सोचते हैं कि आपको पूरी तरह से और ठीक तरह से समझा गया है? क्या आप आलोचकों की प्रतिक्रिया से सहमत हैं?

डॉ. कोहली: आज तक कोई ऐसा लेखक पैदा नहीं हुआ, जिसको यह लगता हो कि उसको पूरी तरह से समझा गया है। यह कहा जा सकता है कि लोग मुझे 60-65 प्रतिशत समझ गए। कहीं लेखक की इच्छा है कि अभी बहुत कुछ और है, जो मैंने कहा है या मैं कहना चाहता हूँ, वह अभी आपका आलोचक निकाल नहीं पाया है, समझ नहीं पाया है, उस पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसलिए अभी बहुत गुंजाइश और हो सकती है।

जहाँ तक आलोचक की बात है... हिंदी में एक विचित्र स्थिति हो गई है कि अधिकांश आलोचक वामपंथी हैं। क्योंकि वे वामपंथी हैं, इसलिए वे रामकथा को स्वीकार नहीं करते। वे आलोचक मेरी प्रशंसा नहीं कर सकते, इस पुस्तक की प्रशंसा नहीं कर सकते। वे इसका शोक मनाते रहे हैं... 1975 से आज तक शोक मना रहे हैं, विलाप कर रहे हैं कि यह लिखी ही क्यों गई। उनका यह कहना था कि यह समय और ऊर्जा का बिल्कुल अपव्यय है, दुरुपयोग है। क्रमश: यह निष्कर्ष निकाले जाने लगे कि नरेन्द्र कोहली साहित्कार ही नहीं है। वे लोग यहाँ तक आ गए कि हर सूची में से मेरा नाम काट दिया गया। उनकी... उन सारी सूचियों में मैं कहीं नहीं मिलूँगा। यहाँ तक हुआ कि राजेंद्र यादव ने अपनी पत्रिका 'हंस' में यह कहा कि नरेंद्र कोहली उपन्यासकार नहीं है, वह पुराणकार है। यह उनकी दृष्टि है। अब यह कहा जा सकता है कि भई दूसरे पक्ष के भी तो कुछ आलोचक होंगे। ऐसा नहीं है कि मेरी प्रशंसा करने वाले लोग नहीं निकले। उनकी भी मेरे पास आलोचनाएँ, कतरनें या पत्र हैं। आरंभ में... और अब शोध निबंध और शोध प्रबंध जो हैं वह सब 90 प्रतिशत प्रशंसात्मक ही हैं। कोई आदमी उस लेखक पर शोध क्यों करेगा, जो उसे प्रिय न हो। अपने जीवन के दो-तीन वर्ष उस पर क्यों लगाएगा। नई पीढ़ी, जो वामपंथी आलोचकों के प्रभाव या दुष्प्रभाव से मुक्त होकर, स्वतंत्र रूप में चल रही है... वे लोग इसकी प्रशंसा में लिखते हैं। तो दोनों तरफ के लोग हैं।

डॉ. राजेश: जिन आलोचकों ने इसे समझा नहीं या नकारात्मक टिप्पणियाँ कीं, क्या आप उनसे सहमत हुए या आहत हुए?

डॉ. कोहली: मैं यह मानता हूँ कि उन लोगों ने समझने-न-समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। उन लोगों की दृष्टि यह है कि ये हमारे सिद्धांत हैं, इन सिद्धांतों के अनुसार लिखो, इन सिद्धांतों से अलग, विरुद्ध नहीं, इनसे अलग आप लिखने का साहस ही कैसे कर सकते हैं। वे उसको साहित्य ही नहीं मानेंगे, जैसे मैं... नाम नहीं लूँगा, इसलिए नहीं कि उनसे डरता हूँ, बल्कि इसलिए कि उनको गौरवान्वित नहीं करना चाहता... वे लोग मंच पर से यह घोषणा करते हैं कि जो व्यक्ति साम्यवादी दल के सिद्धांत नहीं मानता, हम उसको लेखक और पत्रकार भी नहीं मानते। यह निकृष्ट कोटि की सांप्रदायिकता है। मैं उनसे यह अपेक्षा कैसे कर सकता हूँ कि वे अपने संप्रदाय से बाहर के चिंतन को पढ़ेंगे और समझेंगे। वह तो पढ़ने-समझने का सवाल ही नहीं है। वे तो बिना पढ़े और जिन्होंने पढ़ा, वे केवल छिद्रान्वेषण के लिए इसका विरोध करते रहे। उनको दोष भी क्या देना? जिनकी सर्वथा भिन्न, विपरीत, प्रतिकूल, विरोधी रुचि, प्रकृति, स्वधर्म है, उनको इस तरह की कोई भी पुस्तक अच्छी नहीं लग सकती।

डॉ. राजेश: क्या आप मानते हैं कि साहित्य सामाजिक प्रक्रियाओं और सामान्य तौर से देश के जीवन को प्रभावित कर सकता है या इसे यह अवश्य करना चाहिए?

डॉ. कोहली: हाँ, साहित्य का यह काम है। लेकिन उसमें एक अंतर है जो मैं स्पष्ट करना चाहूँगा। साहित्य राजनीतिक या प्रशासकीय आदेश नहीं है कि सुबह अध्यादेश आया या कानून बना और शाम तक देश बदल गया। ऐसा नहीं है। साहित्य एक ऐसा ट्रांसमिशन टावर है, जो अपने आदेश या अपने संस्कार देता रहता है, फैलाता रहता है, प्रसारित करता रहता है। जिसके पास रिसिविंग सेट है, वह उसको पकड़ेगा, उसकी वेवलेंथ पर कौन है, वह उसको पकड़ेगा और फिर यह भी महत्वपूर्ण है कि वह कितना प्रभावित होता है। काल-प्रवाह में इस तरह का समय आता है, जब पूरा का पूरा समाज उसको पकड़ने लगता है, और यह ज़रूरी नहीं है कि वह समाज रचना का समकालीन हो। आज अगर हम बाल्मीकि से प्रभावित होते हैं, व्यास से प्रभावित होते हैं, संस्कार लेते हैं, तो हजारों वर्ष बाद ले रहे हैं। साहित्य एक स्थायी पूँजी है, एक शाश्वत सत्ता है, जो समाज को प्रभावित करती है। जब समाज को ऊँचा देखना होता है, तो वह साहित्य की ओर देखता है।

डॉ. राजेश: अच्छा अंत में आप यह बताएँ कि आप किन विदेशी लेखकों को अनुकरणीय मानते हैं? आप उन्हें यह महत्व क्यों देते हैं? और हिन्दी साहित्य में आपके प्रिय लेखक कौन-से हैं?

डॉ. कोहली: देखो, विदेशियों में मुझे जो सबसे ज़्यादा प्रिय हैं, वह है लेव तोल्स्तोय। मुझे लगता है कि वे आध्यात्मिक लेखक हैं। 'रिसरक्शन' (हिन्दी में 'पुनरुत्थान') में एक आदमी अचानक बदल जाता है, लौकिक से... पार्थिव से अपार्थिव हो जाता है, उसको लगता है कि मैं अपनी जमीनें गरीबों में बाँट दूँ। अपने पाप को पहचानना और उसका प्रायश्चित् करना – यह एक आध्यात्मिक यात्रा है। उसी तरह से मुझे लगता है कि 'युद्ध और शांति' में भी, एक नहीं, अनेक पात्रों का चिंतन पार्थिव से अपार्थिव होता जाता है। वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना है... उसको हम आध्यात्मिक कहें या न कहें, लेकिन इस भौतिक गंदगी से स्वच्छ होने का प्रयत्न है। 'अन्ना कैरेनिना' में भी जो व्यभिचार है, वह अंत में नष्ट होता है, मुझे लगता है... तोल्स्तोय भारत के आध्यात्मिक चिंतन के बहुत निकट हैं। उनका लेखन बहुत साफ-सुथरा है। विदेशियों में तो मैं एक नाम उन्हीं का लेता हूँ, वैसे प्रिय होने को बहुत सारे लोग हैं... अलग-अलग कारणों से, कुछ-कुछ खंडों में। तोल्स्तोय को मैं मूल रूप से, समग्र रूप से पसंद करता हूँ। भारत में जिन लेखकों ने मुझे प्रभावित किया या जो मुझे प्रिय रहे, उनमें एक प्रेमचंद हैं, हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं, अमृतलाल नागर हैं, और विरोधी विचारधारा के होते हुए भी यशपाल मुझे प्रिय हैं। फणीश्वरनाथ रेणु मुझे अपनी कला के कारण प्रिय हैं। ऐसे ही कुछ और कारणों से कुछ और लेखक भी हो सकते हैं, लेकिन वे इतने बड़े नहीं हैं। ये बड़े लेखक हैं, जिनको मैं मानता हूँ। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपनिषदों पर जिस तरह उपन्यास लिखे, शायद ही किसी और ने लिखे हों। अमृतलाल नागर के और भी उपन्यास हैं, लेकिन 'मानस का हंस' में तुलसीदास जिस तरह से आए, अपना पूरा युग लेकर आए...। प्रेमचंद ने तो इस देश का सामाजिक इतिहास ही लिखा है। 'रंगभूमि' में उन्होंने भारतीय संस्कृति के निष्काम कर्म की परंपरा या दर्शन को, सूरदास के माध्यम से प्रस्तुत किया है। आज हम बहुत रोते हैं कि विदेशी... सांस्कृतिक आक्रमण हो रहा है... धर्म की तरफ से, संस्कृति की ओर से, उद्योग की ओर से। वे सारे आक्रमण जिन्हें हम आज पहचान रहे हैं, उनको प्रेमचंद ने न केवल अपने समय में देखा और पहचाना था, वरन् उनका सम्यक चित्रण भी किया था।

ग़ज़ल

डॉ. शशि तिवारी

ये छोटा ख़्वाब आँखों से मेरे दिल में उतर आया,
इधर से भी उतर आया, उधर से भी उतर आया।

मेरे आँगन का हर कोना घिरा रहता था छाया से,
अचानक इक सुनहरा धूप का टुकड़ा उतर आया।

वो जिस पर धूल थी और जो हमेशा बंद रहती थी,
वही खिड़की खुली थी चाँद कमरे में उतर आया।

उड़ा करता था ऐंठा-सा कि जो परवाज़ पर अपनी,
वो ही आकाश का पंछी था पानी पर उतर आया।

कहीं कोई रहे इससे मुझे क्या फ़र्क पड़ता है,
मेरी दिल में जो रहता था वो काग़ज़ पर उतर आया।

बनियान

उमेश अग्निहोत्री

'पिछले जन्म में जो आपके दुश्मन होते हैं, वे आपकी औलाद बन कर पैदा होते हैं।' न जाने पापा जी से यह बात किसने कही थी, लेकिन यह बात उन्हें इतनी पसंद आयी थी कि अगले-पिछले जन्मों में यकीन न होने के बावजूद उनके दिमाग़ में रह गई थी, और उस वक्त तो ख़ास तौर पर याद हो आती थी जब वह अपने बेटे को बनियान उलटी पहने देखते।

तब वह उन्नीस-बीस साल का रहा होगा। उन्होंने उसे एक बार टोका था - तूने बनियान उलटी पहन रखी है।

वह दिन और आज का दिन, वह तीस का हो चला था उसने फिर कभी बनियान सीधी पहन कर नहीं दी थी।

पापा जी ने कहा – तू बनियान उलटी पहनता है, यह जताने के लिये कि मेरी बात की परवाह नहीं है।

बेटा कुछ नहीं बोला। वह अक्सर पापा जी के सामने नहीं बोलता था। उसकी कोशिश रहती थी कि उनके सामने न ही पड़े। वह कुछ कह देंगे, तो बहसबाज़ी होगी। वह उनके कमरे में तो जाता ही नहीं था।

पापा जी ही थे जिनके आँख-कान, अपने कमरे में बैठे-बैठे भी, बाहर लगे रहते। बेटे की गुसलखाने की तरफ जाने की आहट सुनी तो वह कमरे के बाहर आ गये, कुछ इस तरह जैसे किसी काम से बाहर आये हों। बात शायद कुछ और करना चाहते थे पर बनियान पर नज़र पड़ गयी। उन्होंने अपनी बात दोहरायी। बेटे ने जवाब दिया– 'सिलाईवाली साइड बदन को चुभती है, और बनियान के ऊपर कमीज़ आ ही जाती है।'

वह उसका मुँह देखते रह गये।

आजकल बनियाने इतनी बढ़िया सिली होती है कि गले में लगा 'टैग' न देखो तो पता ही नहीं चलता कि कौन सी साइड बाहर की है और कौन सी अंदर की।

तो ज़रूरी है कि टैगवाली साइड बाहर की तरफ हो ?

आप ही कहते हो कि कपड़ा शरीर ढकने के लिये होता है। मुझे फर्क नहीं पड़ता बनियान सीधी है या उलटी।

पत्नी ने बीच-बचाव करना चाहा....बनियान उसकी है शरीर उसका है, वह चाहे जैसे पहने आप देखते ही क्यों हो?

वह बोले, बचपन से ही इसकी यह आदत है कि बाप का कहा नहीं मानना। जब दो साल का था, मैं सहगल का कोई गाना गुनगुनाऊँ, तो रोने लगता था, और कहता था, गाना नई। मेरा गाना ही बंद करवा दिया। जो खिलौना लेकर आता था, तो कहता था, दूसरा वाला। बड़ा हुआ तो समझाया जल्दी सोना और जल्दी जागना सेहत के लिये अच्छा होता है। मैं सो जाता था पर यह जागा रहता था। उस वक्त मैं इसकी ऐसी बातों पर हँस देता था, सोच कर की सभी बच्चे ऐसा करते होंगे। क्या पता था कि यह पिछले जन्म का कोई हिसाब-किताब बराबर किये जा रहा है।

पत्नी बेटे से बोलीं – तू कमीज़ पहन कर ही इनके सामने आया कर।

वह बोला – पापा जी, क्या पहनते हैं, क्या मैंने कभी कुछ कहा है?

पापा जी ने अपने पजामें और कमीज़ की तरफ देखा – क्यों क्या खराबी है मेरे कपड़ों में?

सवाल करने के बाद वह सहसा चुप हो गये लेकिन भवें तन गयीं। वह जानते थे कि माँ-बेटे दोनों को ही उनके पहनावे पर आपत्ति रही है। सारी सर्दियाँ वही स्वेटर और उस पर वही बंड़ी, और गर्मियों में

दो-दो और कभी-कभी तो तीन-तीन वही कुर्ता-पजामा, और धूल खाई, घिसी-पुरानी चप्पलें पहनकर दिनभर अंदर-बाहर आते-जाते रहना। उन्हें रिटायर हुए पाँच वर्ष हो चुके थे। वह सोचते थे कि उनके लिये अब रोज़-रोज़ कपड़े बदलना ज़रूरी नहीं रहा है। रोज़ कपड़े बदलें, रोज़ धुलें, फिर इस्तरी हों, अकारण काम क्यों बढ़ाएँ अपने लिये और औरों के लिये।

तो भी पत्नी को सुनाते हुए बोले – सुन लिया तुमने ?

पत्नी बोलीं – अब बस भी करो। आप किन छोटी-छोटी बातों के पीछे पड़ जाते हैं।

सुबह के नौ बजे थे। बेटा ऑफिस जाने के लिये तैयार हो रहा था। उसने कमीज़ पहन ली थी, पर पापा जी को जैसे उसकी बनियान अब भी नज़र ही आती रही।

छोटी छोटी बातें। यह तीन शब्द उनके दिमाग़ में दस्तक देने लगे। अब छोटी बातें ही तो रह गयी हैं। धीरे-धीरे यह नौबत आ गयी कि बड़ी बातों पर कोई संवाद नहीं रहा। जो किताबें उन्हें पसंद है, वह पुत्रश्री भूल कर नहीं देखता। अगर कोई किताब पढ़ने के लिये सुझाते हैं, तो शीर्षक और अनुक्रम पर सरसरी नज़र डाल कर उन्हें ही थमा देता है। जो संगीत उन्हें पसंद है, उसे वह नहीं सुनता। जिस फिल्म की वह प्रशंसा करते हैं, जिस टीवी चैनल को वह देखना पसंद करते हैं, वे उनको सिरे से ही ख़ारिज़ कर देता है। मुँह बंद कर के यूँ बिटर-बिटर देखता है, जैसे वह बकवास कर रहे हों।

छोटी-छोटी बातें न करें, तो अबोला ही हो जाये। कभी पूछ लें – खाना खा लिया, या रात को कब आओगे, क्या शादी के लिये कोई लड़की पसंद आयी, तो या तो कोई जवाब नहीं देता, या फिर इतना मुख़्तसर, कि समझ नहीं आता कि हाँ कह रहा है या न। उन्होंने सिर झटका। भले ही बोल नहीं रहा लेकिन बनियान उलटी पहन कर 'स्टेटमेंट' तो देता ही आ रहा है।

वह मन ही मन बुड़बुड़ाये - यह भी समझ कर नहीं देती कि बेटे की बात में कोई लॉजिक नहीं है।

जब बेटा अपनी कार में ऑफिस चला गया तो पत्नी ने आकर खुशी-खुशी बताया कि जाते-जाते कह गया है- पापा से कहना शाम को तैयार रहें, बाहर खाना खाने चलेंगे।

पापा जी ख़ुश होने की बजाये बिफर गये – मुझे नहीं जाना।

--- आप भी हद करते हैं। बनियान न हुई, आफ़त हो गयी।

--- सीधे मुँह बात करनी नहीं, खाना खिलाने ले कर जायेंगे!

-- क्या बात करे? जानता है बात करने से कुछ हासिल नहीं होगा। झगड़ा ही होगा।

-- मैं झगडा करता हूँ?

-- नहीं, वह करता है।

पत्नी का तंज उन्हे बरदाश्त नहीं हुआ। वह उसी पर सवार हो गये। - मैं जानता हूँ तुम भी उसी की तरह सोचती हो। तुम्हारी शह पर ही वह मुझ से ऐसा व्यवहार करता है।

--- उसकी बात भी तो समझो, कहता है, पापा जी से जब तक किसी गंभीर टॉपिक पर बात न करो, उनसे बातचीत शुरू ही नहीं की जा सकती। हल्की-फुल्की बात हल्के-फुलके तरीके से वह करते नहीं। लाइफ़ में पहले ही क्या कम तनाव है? पापा उसे और भी बोझिल बना देते हैं। बीच में बड़े-बड़े दर्शन बघारने लगते हैं, मार्क्सवाद को बीच में ले आते हैं। बेकार की भाषणबाज़ी। बात करूँ तो क्या? जिसको मार्क्स का नहीं पता उससे तो उनकी बात ही नहीं हो सकती। हमें तेज़ भागना है, यह दार्शनिक ब्रेकें लगाते रहते हैं। आज कल का ज़माना हल्की-फुल्की बातें करने का है। अब बनियान को ही लो....।

---बात बनियान की नहीं, 'एटीच्यूड' की है।-- पापा जी बोलते-बोलते रुक गये। लगा कि बात बढ़ायेंगे तो मार्क्स को बीच में लाना ही पड़ेगा या वह ख़ुद ही आ जायेंगे। फिर भी बोल दिया – बात दरअसल बाप को आदर- सम्मान देने की है।

--- आपके लिये नई से नई कमीज़ें, बढ़िया से बढ़िया स्वेटर, सूट का कपड़ा लाया फादर्स डे पर, आपने बड़ाई की उसकी कभी। जो लाया पहन के नहीं दिया।

--- चीज़ें ला कर देते रहो, पास न बैठो। यह नई तहज़ीब सीखी है।

पापा जी को याद आया जब वह छोटे थे, घर में जब कभी कोई विषय उठता था, तब बाबू जी मिर्ज़ा ग़ालिब और अम्मा जी राम चरित मानस से उद्धरण पर उद्धरण देने लगते। विचारों का मज़ेदार आदान-प्रदान होता। वह ख़ुद भी जैसे 'मार्क्स-ऐगल्स रीडर' लेकर उनकी बातचीत में शामिल हुआ करते। वह ज़माना जाने किधर गया। यह क्या ज़माना है? उनका बेटा किस किताब को खोल रहा है यह उन्हें समझ नहीं आता। यह कैसी पौध है? एक ही लक्ष्य है। ....पैसा। किताबों से तो जैसे वैर है इस कौम को। हल्की-फुल्की बातें करो, और हल्के-फुल्के अंदाज़ में।

प्यार से समझाता था, बेटे लेट कर मत पढ़ा कर, तो भी इसकी वही टेढ़ी चाल। बिस्तर पर लेट कर ही पढ़ता रहा। जो स्टडी-टेबल ला कर दी वह अलग ही पड़ी रही। एक बार यह भी कहा – सुबह पाँच बजे उठा करो, लेकिन क्या मज़ाल कि जनाब आठ बजे से पहले पलंग छोड़ें। मंसे फूटने लगीं तो इशारे से कहा –हम छोटे थे तो बाबू जी के सोने के बाद सोते थे और उनके जागने से पहले उठ बैठते थे। सोचा इशारा समझेगा। ... पर इसका जवाब? आप भी नौ बजे सो जाया करें और सुबह आठ बजे उठा करें, तो मैं भी आपके सोने के बाद सोया करूँगा और जागने से पहले जाग जाया करूँगा। अब आप को नींद नहीं आती तो क्या मैं जागे रहा करूँ?

अपनी पत्नी को सुनाते हुए बोले – याद है जब कभी हम कहीं बाहर इक्ट्ठे घूमने जाते थे, वह हमारे साथ-साथ नहीं चलता था। अगर हम बाँयीं पटरी पर चलते थे, तो बरख़ुरदार हम से अलग, सड़क की दूसरी तरफ दाईं पटरी पर ही चलता। हम अगर इसकी पटरी पर आ जायें, यह जाने कब हमारीवाली पटरी पर पहुँच जाता था और आगे-आगे चल रहा होता था, बीच-बीच में पीछे मुड़कर देख लेता था कि माँ-बाप आ रहे हैं। कलयुग के श्रवणकुमार शायद ऐसे ही होते होंगे।

पत्नी बोलीं – दूसरी पटरी पर सही, पर चल तो उसी तरफ रहा होता था, जिस तरफ हम चल रहे होते थे।

पापा जी के पास इस बात का कोई जवाब न था। उन्हें 'जन्मवाली' बात याद आ गयी। बोले – जाने कौन से जन्म की दुश्मनी है।

अचानक पत्नी बोली- मैं आपकी किताबों में ही कहीं पढ़ रही थी कि वह युग दूर नहीं जब बच्चे अपनी पसंद का बाप चुना करेंगे। बच्चे तो पैदा होते रहेंगे, लेकिन उन्हे भी 'फ्रीडम आफ च्वाएस होगी' कि वह अपना बाप किसे चुने। तर्क यह है कि अगर स्त्री-पुरुष अपनी पसंद से अपना जीवन साथी चुन सकते हैं, और अगर उनकी नहीं बनती, तो तलाक भी दे सकते हैं, औरत को गर्भधारण करने गर्भपात कराने का अधिकार है, तो संतान को भी यह अधिकार हो कि अपनी पसंद के माँ-बाप चुन सकें। अगर किसी को ठीक बाप नहीं मिला, यानी जो अपनी जिम्मेदारी ठीक ढंग से नहीं निभाता तो वह क्यों उसका ख़ामियाज़ा भुगतते रहें आजीवन। उन्हें भी अपना बाप चुनने का अधिकार होना चाहिये।

पापा जी सकते में आ गये। उन्होंने यह तो पढ़ा था कि बुर्जुवा परिवार नहीं रहेगा। सम्पत्ति के संबंधों पर आधारित परिवार ख़त्म हो जायेगा। बच्चे केवल माँ-बाप के नहीं, वे समाज के भी हैं, ग़रीब बाप का बेटा उसकी गुरबत क्यों ढोए, और धनी बाप का बेटा, बिना काम-धाम किये, अपने बाप की ज़ायदाद का वारिस क्यों हो जाये? लेकिन पत्नी ने उनकी अलमारी में से यह कौन सी किताब निकाल कर पढ़ ली, वह सोचते रहे। क्या वह मज़ाक तो नहीं कर रही? क्या उसने उन्हीं के दिये आख्यानों-व्याख्यानों को सुन अपने निष्कर्ष तो नहीं निकाले?

वह बोल रही थीं - आप बहुत ख़ुशकिस्मत हैं कि अभी वह युग नहीं आया है, और न ही बच्चों में उतनी जागृति आयी है, वरना बहुत से पिता – 'फादरहुड' की परीक्षा में फेल ही हो गये होते। बच्चे इन दिनों अपने माता-पिता को कभी आइ-पॉड, कभी आई-फोन, ब्लू बेरी जैसे लेटैस्ट गैजेट ला कर भी देने लगे हैं....ताकि वे उनके साथ चलते रह सकें।

शाम को बेटे के घर लौटने से पहले वह नई कमीज़-पैंट पहने तैयार खड़े थे। पैरों में नये जूते चमचमा रहे थे। पत्नी ने देखा तो हैरान। बेटा आया तो वह भी भौंचक। वह सोचता आया था कि माँ जब उन्हें उसके लाये नये कपड़े पहनने के लिये कहेंगी तो ज़रूर बखेड़ा खड़ा होगा। ऐसा क्या हुआ कि पापा जी के जीवन में यह कायापलट हो गई। और वह भी एक ही दिन में। उसके लिये यह किसी क्रांति से कम नहीं था। लेकिन उसने इस विषय पर बहुत रगड़ना ठीक नहीं समझा। जहाँ तक पापा जी की बात थी, उनके लिये विचार का महत्व आर्थिक परिस्थितियों से कमतर नहीं था।

उसने पापा जी और अम्मा जी को कार में बिठाया और इंडिया इंटरनेशनल सेंटर ले चला। रास्ते में पापा जी उससे हल्की-फुल्की बातें करने की कोशिश करते रहे। बॉलीवुड का बादशाह कौन है? अमिताभ या शाहरूख? सीरियल छोटी बहू के बारे में जानना चाहा। एक बार उनके वस्त्रों पर भी बात आती प्रतीत हुई। उनके मुँह से निकलते-निकलते रह गया - यह प्रतिगामी....।

खाने की मेज़ पर भी हल्की-फुल्की बातें करने की उनकी कोशिशें जारी रहीं। उनकी नज़र रह-रह कर बेटे की गर्दन के नीचे के हिस्से में भी उतर जाती। बेटे ने अपनी टाई ढीली कर के कमीज़ का ऊपर का बटन खोला तो कमीज़ के पीछे और भीतर गौर से देखने लगे क्या बेटे ने कमीज़ के नीचे बनियान उलटी पहन रखी है या सीधी?

कभी-कभी उन्हें लगता कि कमीज़ के नीचे बनियान है ही नहीं....।

जो देखा होता

मणि 'चमन'

मेरी वफ़ा को आज़मा के जो देखा होता,
दिल की दुनिया में बसा के हमें देखा होता।
हम ही क्या सारी ख़ुदाई निसार हो जाती,
हमें अपना बना के आपने देखा होता।
मुस्कुराते तो क्या तौहीने-वफ़ा हो जाती,
सिर्फ़ एक बार ऐतबार से देखा होता।
खोये रहते तमाम उम्र हम ख़यालों में
वक़्ते-रुख़सत पे एक बार जो देखा होता।
आख़िरी साँस का तुमको सलाम देते हैं,
सुकूँ से मरते 'चमन' प्यार से देखा होता।

बसंत के खेल

डॉ. सुषम बेदी

ओ
चेरी के फूल!
कुछ दिन पहले
गर्दन उचकाकर
सिर को उपर उठा कर
बार-बार तुम्हें देखती तुम्हारा बच्चों की मीठी
गोलियों-सा
या तरबूज़ के गूदे-सा
गुलाबीपन,
सेमल की रुई-सा
या धूपनिखरे बादल-सा
उजला और रेशमी सफ़ेदपन।
तुम्हारे कोमल बोझ से डोलती,
लचकती,
कभी लहलहाती
चेरी के पेड़ों की डालियाँ।
तुम किसी गीत की लहर से
कभी झुकते
फिर उठते,
कभी आसमान से बतियाते
तो कभी धरती के पाँव को छू कर
नमन करते।
तुम
गुच्छा गुच्छा झूलते
सारे शहर को बौराते, मदमाते
दुनिया भर में मनाते उत्सव
वसंत का
और मैं निहारती तुम्हें
मुग्ध, अचंचल!

आज
त्याज्य हो तुम
उन डालियों के
धराशायी हैं रसीले गुच्छे।
शहर की सड़कों पर
ढेर लगा दिया है
तुमने गुलाबी, चिकनी पत्तियों
का।
अभी अभी
सफ़ाईवाले ने बुहार इन्हें
प्लास्टिक के थैलों में भर
बाँध दिया है।
तुम्हारी तरबूज़िया गुलाबी
रंगत
बार-बार झाँक जाती है
इन गठरियों के बाहर
उस पहचानी हवा में साँस लेने
या वसंत की धूप का स्पर्श पाने।
क्या तुमको मालूम है
कल ये गठरियाँ भेंट हो जाने
वाली हैं
कूड़े के ट्रक को।
बसंत के लिए इतने पागल थे
कि अपनी ही बलि दे बैठे।
बसंत तो अभी भी यहीं है
वैसा ही इठलाता
सबसे बेखबर
और तुम?

भाषिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद

डॉ. परमानंद पांचाल

भाषा विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम ही नहीं, भावनाओं की अभिव्यक्ति और संस्कृति की संरक्षिका भी है। भाषा और संस्कृति का अविच्छेद्य सम्बन्ध होता है। भाषा संस्कृति की वाहिका होती है और उसके साहित्य में उसकी गहरी झलक मिलती है। मैडलवान ने ठीक ही लिखा है कि प्रत्येक संस्कृति का सार तत्व उसकी भाषा में अभिव्यक्ति पा सकता है और पाया करता है। भाषा न केवल संस्कृति का अविभाज्य अंग है अपितु उसकी कुंजी भी है। भाषा के बिना यदि संस्कृति पंगु है तो संस्कृति के अभाव में भाषा अंधी। यदि भाषा पर कही से कोई प्रभाव पड़ता है तो संस्कृति भी अप्रभावित नहीं रह सकती। किसी देश की संस्कृति आशय मुख्यतया वहाँ के निवासियों के आचार विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज और जीवन-प्रणाली से है। नृविज्ञान में संस्कृति का अर्थ समस्त "सीखा हुआ व्यवहार" होता है अर्थात् वे सब बातें जो हम किसी समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं। इस प्रकार किसी जाति अथवा समाज के सम्यक् संस्कार ही उसकी संस्कृति है।

प्रश्न यह है कि संस्कृति का निर्माण होता कैसे है और उसमें भाषा का क्या स्थान है? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि संस्कृति हमारी चिंतन का प्रतिफल होता है और वह चिंतन बिना भाषा के सम्भव नहीं है। हमारा समस्त चिंतन-मनन, सोच-विचार भाषा के माध्यम से ही होता है। बिना भाषा के हम कुछ भी सोच-विचार नहीं कर सकते। स्पष्ट है हमारी समस्त चिंतन-प्रक्रिया भाषा द्वारा ही संचालित होती है। भाषा शब्दों का समूह-मात्र नहीं है और न ही वह व्याकरणिक नियमों का संग्रह; भाषा तो मानवीय चेतना का मूर्त रूप है, जिस से उसकी संस्कृति की आत्मा भौतिक विश्व में व्यक्त होती है (डेविस, डब्लू - १९९९ - ६५) ऐसी स्थिति में संस्कृति के निर्माण में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और वही हमारे संस्कारों की भी जननी होती है। स्पष्ट है किसी भाषा की उपेक्षा के कारण उससे जुड़ी संस्कृति भी उपेक्षित हो जाती है। इसे ही एक प्रकार से हम सांस्कृतिक संकट कहेंगे। इस संकट के संभावित कारक निश्चय ही, उससे सम्बद्ध भाषा में खोजे जा सकते हैं। इसके लिए हमें इतिहास में पीछे मुड़कर देखना होगा।

यूरोप में औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोपीय देशों ने विश्व के अन्य भागों में व्यापार की दृष्टि से मंडियाँ तलाशनी आंरभ की। १६०० ई. में इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में आई। फ्रांस, पुर्तगाल, डेनमार्क, स्पेन, हालैंड, और जर्मनी, आदि ने भी विदेशों में अपने व्यापारिक अड्डे स्थापित करने आंरभ किए। एशिया, अफ्रीका, उतरी और दक्षिणी अमेरीका, न्यूजीलैंड तथा अस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों में इन देशों को अपने नव उपनिवेश स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई। वे जहाँ-जहाँ भी गए वहाँ अपनी भाषा भी साथ लेते गए। भाषा के साथ उनकी संस्कृति भी उनके साथ गई। उन्होंने अपनी व्यापारिक क्षमता और कूट नीति के द्वारा विश्व के बहुत सारे देशों में सत्ता पर अधिकार कर, उन्हें गुलाम बना लिया। इन देशों की सम्पदा का दोहन और शोषण किया गया। यही नहीं, साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने अधीन देशों में अपने स्वार्थ हित अपनी भाषा का प्रसार भी किया। यूरोपीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इस प्रकार औपनिवेशिक देशों में सम्बंधित यूरोपीय देशों की भाषाओं का साम्राज्य स्थापित हो गया और वहाँ की और देशी भाषाएँ दबती चली गई। अँग्रेजी साम्राज्य के अधीन देशों में अँग्रेजी भाषा को शासन की भाषा बनाया गया। लेटिन अमेरीका के देशों, अर्थात् दक्षिण अमेरीका और मैक्सीको आदि में स्पेनिश भाषा का

साम्राज्य स्थापित हो गया। फ्रैंच और पुर्तगीज़ भाषाएँ भी इन महाद्वीपों में पहुँची। भाषाई साम्राज्य स्थापित करने में बल प्रयोग भी किया गया।

मुझे इस सम्बन्ध में मैक्सिको की एक घटना याद आ रही है। २३ अप्रैल १९८४ को राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह जब मैक्सीको के राष्ट्रीय संग्राहलय में एक दुभाषिए के माध्यम से वहाँ के एक अधिकारी से बात कर रहे थे, जो स्पेनिश भाषा का प्रयोग कर रहा था। हमारे राष्ट्रपति जी ने जब उससे पूछा कि आप तो स्पेनिश में बोल रहे हैं, अपने देश की भाषा में क्यों नहीं बोलते? तो उसने बड़े संकोच के साथ उतर दिया कि यहाँ के मूल निवासियों में से अधिकांश को स्पेनी साम्राज्य की स्थापना के समय मार डाला गया था। शेष बचे लोग जंगलो और पहाड़ों की ओर भाग गए थे। इसलिए वह भाषा आज यहाँ नहीं बोली जाती। उनकी संस्कृति भी शेष नहीं है। हमें पुराने खंडहरों में उनकी सभ्यता, "माया" के अवशेष अवश्य देखने को अवश्य मिले। यह इतिहास की कितनी बड़ी त्रासदी थी कि उनकी भाषा के साथ उनकी संस्कृति भी नष्ट हो गई। लगभग यही स्थति, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, अफ्रीका आदि के देशों की भी रही, क्योंकि आज, इन देशों में अँग्रेजी भाषा और संस्कृति का ही एकल साम्राज्य है।

यदि हम भारत के सम्बन्ध में विचार करें तो हम देखेंगे कि भारत में अँग्रेजी साम्राज्य के साथ अँग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ा। अँग्रेजी को ही शिक्षा का प्रमुख माध्यम बनाया गया। भारतीय भाषाओं के विकसित होने की संभावनाओं को क्षीण किया गया। लार्ड मैकाले द्वारा १८३५ में प्रस्तुत विवरण पत्र की प्रशंसा करते हुए नार्मन जिफेयर्स ने लिखा है। A culture was to be transplanted to promot progress and so English became the possession. प्रगति हेतु एक संस्कृति की प्रति स्थापना करना। इसलिए अँग्रेजी को साधन बनाया गया। (१) इस प्रकार मैकाले द्वारा अँग्रेजी भाषा की वकालत के पीछे निहित उद्देश्य स्पष्ट था। वह भाषा और शिक्षा के माध्यम से यहाँ की समृद्ध संस्कृति पर चोट करना चाहता था। उसे समृद्ध भारतीय संस्कृति से चिढ़ थी। इसका प्रमाण यह है कि उनसे पूर्व बर्क ने १७८३ ई. में ईस्ट इंडिया बिल पर बोलते हुए भारतीय संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा था। "यहाँ के लोग युगो-युगो से सुसभ्य और सुसंस्कृत है, उन्होंने उन्नत जीवन जीने की सभी कलाओं में तभी से दक्षता प्राप्त कर ली थी जब कि हम अभी जंगली जीवन जी रहे थे। (A people for ages civilized and cultivated; cultivated by all the arts of polished life, while we were yet in the woods." (२) यही नहीं मैकाले द्वारा १८३६ में अपने पिता को लिखे एक पत्र से भी उसकी मंशा का स्पष्टीकरण हो जाता है कि किस प्रकार वह अँग्रेजी भाषा के माध्यम से भारत की प्राचीन संस्कृति और उसकी मान्यताओं पर चोट करना चाहता था। उसने लिखा था, कि कोई भी हिन्दू जिसने अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है, अपने धर्म के प्रति आस्थावान नहीं रह जाएगा.....मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा योजना पर अमल किया गया तो तीस वर्षों के बाद बंगाल के भद्र समाज में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा। (No Hindu, who has received an English education, ever remains sincerely attached to his religion.....It is my firm belief that if our plan of education are followed up there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal, thirty years hence.)

मैकाले भारतीय लोगों को अँग्रेजी भाषा के द्वारा एक भिन्न संस्कृति में प्रविष्ट कराने के स्वप्न देख रहा था और उसमें वह बहुत कुछ हद तक सफल भी रहा। लार्ड एल्फिंस्टन ने ठीक ही कहा था कि अँग्रेजी राज के पश्चात् स्वतंत्र भारत में भी अँग्रेजी भाषा, राज के कीर्तिमान के रूप में खड़ी रहेगी। यही बात १८६३ में एच. एच. विल्सन ने भी कही थी कि "अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त नौजवानों के मन में अपने देश के लिए कोई सहानुभूति या सद्भावना नहीं रह गई है।" (५) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत पहले ही भाषा के सांस्कृतिक महत्व को रेखांकित करते हुए कहा था, "भाषा ही किसी जाति के भीतर के कलपुर्जो का पता

देती है। किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है। "भाषिक साम्राज्य से यही सब कुछ हुआ।"

वर्तमान के कुछ भाषाविदों के विचारों पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि १९७० और १९८० के बीच ससेयर (१९५०, फेनन स(१९५२), स्पेंसर (१९७१), काल्वेट (१९७४), और बेम्बोस (१९७६-२०००), आदि के नए प्रकाशनों के आने के बाद भाषा पर पड़े यूरोपीय उपनिवेशवाद के प्रभाव को लेकर चर्चाएँ गर्म हो गई हैं। हाल ही में पेनीकुल (१९९८-२००१), किर्कपैट्रिक और फिलिपसन (१९९५) जैसे भाषाविदों ने अपने शोध प्रबंधों द्वारा इस विषय पर अपने गहन विचार व्यक्त किए हैं। अधिकांश विद्वानों ने उस भाषिक और सामाजिक विषमता पर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है, जो यूरोपीय साम्राज्यवाद के विस्तार के विगत् में उपनिवेश रहे विश्व के देशों पर पड़ा है और जो आज भी भाषिक और सामाजिक जटिलता से ग्रस्त हैं। पूर्व-साम्राज्यवादियों के आर्थिक दबाव, स्थानीय विशिष्ट वर्ग के लोगों द्वारा औपनिवेशिक मानसिकता से छुटकारा न पाने तथा बढ़ रहे भूमंडलीकरण के कारण औपनिवेशिकता की सामाजिक और भाषिक स्थिति आज भी कायम है।

यूरोपीय साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का ध्येय यूरोपीय राष्ट्रों के आर्थिक और सत्ता के आधार का प्रसार करना तथा अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना था। इतिहास साक्षी है कि उतरी अमेरीका और आस्ट्रेलिया में मूल निवासियों को कृषि भूमि से बेदखल कर उन्हें मज़दूरी करने पर मज़बूर किया गया। उनकी भाषा को उनसे छीन लिया गया। यही दशा कैरिबियाई द्वीपों के लोगों की भी हुई। केलवेट (१९८७ : ७२) का तर्क है कि पहले यूरोपीय भाषा उपनिवेशों के उच्च वर्ग को पढ़ाई गई। इसके बाद निम्न तबके के लोगों को। पहले बड़े नगरों में, फिर गाँवों तक इस भाषा को फैलाया गया। भारत में लार्ड मैकाले की नीति भी डाउनवर्ड "फिल्ट्रेशन" सिद्धान्त अर्थात् पानी के ऊपर से नीचे की ओर बहने की रही थी। यहाँ भी पहले भद्र समाज को ही अँग्रेजी की शिक्षा दी गई। बाद में यह भाषा आम लोगों तक निथरती हुई पहुँची।

औपनिवेशिक भाषा साम्राज्य के कारण अनेक देशी भाषाएँ मर गईं। कुछ देशों में तो आदिम जन संख्या को बलात समाप्त ही कर दिया गया जैसा कि उरूगुवे, ब्राजील तथा चिली अथवा अर्जेन्टीना और मैक्सिको को में हुआ। यहाँ देशी भाषाओं को नष्ट किया गया। इसे भाषिक संहार कहा जा सकता है। आप सोचिए कि जब भाषा ही समाप्त हो गई तो संस्कृति कहाँ से बच जाती? अतः साम्राज्यवादी देश एक प्रकार से गुलाम देशों के भाषाई संहार के दोष से बच नहीं सकते। उन्हें अंर्तराष्ट्रीय भाषिक अपराध (International linguistic crime) का दोषी माना जाएगा। फिल्पिसन (१९९५) भी इस मत के पक्षधर हैं।

किसी भाषा का मर जाना एक संस्कृति का लुप्त हो जाना होता है। १९९१ की भारत की जनगणना के भाषा खंड की प्रस्तावना में दिया गया यह कथन कितना सटीक है जिसमें कहा गया है कि "भाषा आत्मा का वह रक्त है, जिसमें विचार प्रवाहित होते और पनपते है।" इसमें आगे कहा गया है कि "यदि एक भाषा मरती है तो एक जाति का हज़ारों वर्ष का अनुभव, इतिहास, उसकी सांस्कृतिक, विविधता तथा पहचान ही सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है।" (६)

डॉ. शेलेन्द्र सिंह का यह कथन भ्रामक है कि "भारत में अँग्रेजी के विरोध में स्वर उठाना न तो व्यक्तिगत् हित में है और न ही देश के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित में है।" इसका मतलब कतिपय यह भी नहीं है कि अँग्रेजी ने अन्य भारतीय भाषाओं पर अपना दबदबा कायम कर लिया है।" (७) निश्चित रूप से अँग्रेजी के कारण भारतीय भाषाओं का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है। ये भाषाएँ शिक्षा के माध्यम से हटती जा रही हैं। राजभाषा के रूप में हिंदी को चुनौती मिल रही है। अँग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है। इसका प्रभाव देश की संस्कृति पर भी स्पष्ट झलकता है। यह सब भूमंडलीकरण का प्रभाव ही है। केवल इतना ही नहीं ब्रिटिश सरकार सं. राज्य अमेरीका के सहयोग से अँग्रेजी को विश्व भाषा बनाने के

प्रयास में शिद्दत से जुड़ी है। इसका संकेत फिलिप्सन के इस कथन में मिल जाएगा, कि ब्रिटेन १९५० से अमेरीका के सहयोग से अँग्रेजी को विश्व भाषा बनाने के लिए पुरजोर कोशिश कर रहा है और अँग्रेजी भाषा के अभियान को अभूतपूर्व तरीके से विश्वव्यापी आधार पर चला रहा है।" (१९९२ : १३२, १३३)।

यदि प्रो. डेलवी की बातों पर ध्यान दें तो "वर्ष २०१० और २०२० तक तो निश्चित् रूप से एशिया अँग्रेजी भाषा का महत्वपूर्ण केन्द्र होगा" (टाइम्स ऑफ इंडिया, अंक-३१ दिसम्बर १९९८)। किसी भी देश में किसी विदेशी भाषा का शिक्षा का माध्यम होना, उस देश की मूल भाषाओं के लिए निश्चय ही ख़तरे की घंटी है। त्सूई और टोलिफसन (२००४:२) का कहना है कि "शिक्षा का माध्यम किसी भाषा और संस्कृति के परिरक्षण और संजीवन के लिए सर्वाधिक सशक्त साधन है। भाषिक साम्राज्यवाद में निश्चय ही भाषा के अधिकार प्रभावित होते हैं। स्कुट नेब कंगास (१९९७:५५) कहते हैं कि निःसन्देह शिक्षा में भाषा के अधिकार भाषाओं परिरक्षण तथा भाषिक एवं सांस्कृतिक संहार (genocide) को रोकने के लिए परम आवश्यक हैं। (८)

भाषाई साम्राज्यवाद औपनिवेशिक साम्राज्य की देन है किन्तु विडम्बना यह है कि भाषाई साम्राज्यवाद तब भी समाप्त नहीं हुआ जब इन पूर्व उपनिवेशों ने राजनैतिक आज़ादी प्राप्त कर ली। अमेरीका और ग्रेट ब्रिटेन से आर्थिक, प्रलोभन प्राप्त करने और यूरो-सैंट्रिक शिक्षा मॉडलों के अपनाए जाने से तथा दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान तथा द्वितीय भाषा के रूप में अँग्रेजी पढ़ाए जाने ने अँग्रेजी के महत्व को बढ़ा दिया। अँग्रेजी रोज़गार से जुड़ गई और देशी भाषाएँ उपेक्षित होती चली गईं। इसका विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा और विदेशी भाषा के वर्चस्व से उन देशों में सांस्कृतिक संकट भी उत्पन्न हो गया। भाषाई वर्ग भेद बढ़ा फलतः समाज में सांस्कृतिक द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हो गई।

यहाँ भाषा और संस्कृति के अटूट सम्बन्ध के विषय में २९ नवम्बर २००३ से मई २००६ तक वैलिंग्टन, न्यूजीलैंड के संग्रहालय में लगी एक प्रदर्शनी का उल्लेख किया जाना अप्रासंगिक न होगा, जिसमें एक फिल्म दिखाई गई थी उसमें एक माओरी आदिवासी कहता है -

"As long as we have the language
we have the culture
As long as we have the culture
we can hold on to the land."

अर्थात् - जब तक हमारे पास भाषा है
तब तक हमारे पास संस्कृति है,
जब तक हमारे पास संस्कृति है,
तब तक हम अपनी भूमि पर बने रहेंगे। (८)

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भाषिक साम्राज्य के कारण अन्य भाषाओं का विकास अवरूद्ध होता है और भाषाई अवरोध के फलस्वरूप उससे सम्बद्ध संस्कृति के लिए भी संकट उत्पन्न हो जाता है।

संदर्भ -

(१) Introduction to. John Press Ed. CommonWealth Literature. P. X.V., A Noman Jeffares
(२) Trading in Longnages, Dr. Tulsi Ram, P. ८५
(३) Quotel Mayhew, The Education of India, P.P. १५-१६
(४) भारत में अँग्रेजीः क्या खोया, क्या पाया, डॉ. तुलसीराम, पृष्ठ-८
(५) भारत में अँग्रेजी राजः सुन्दरलाल १११, पृष्ठ - ११४४-११४८

(७) सैद्धांतिक पक्ष और तीसरी परम्परा की खोज, डॉ. शैलेन्द्र कुमार सिंह, गवेषणा, अंक ९१ (जुलाई-सितम्बर २००८)

(८) Handbook of Languages and communication: Diversity and change, editied by Maris Hellinger and Anni Pauwels, page ४१६.

(९) Ibid. page ३८९

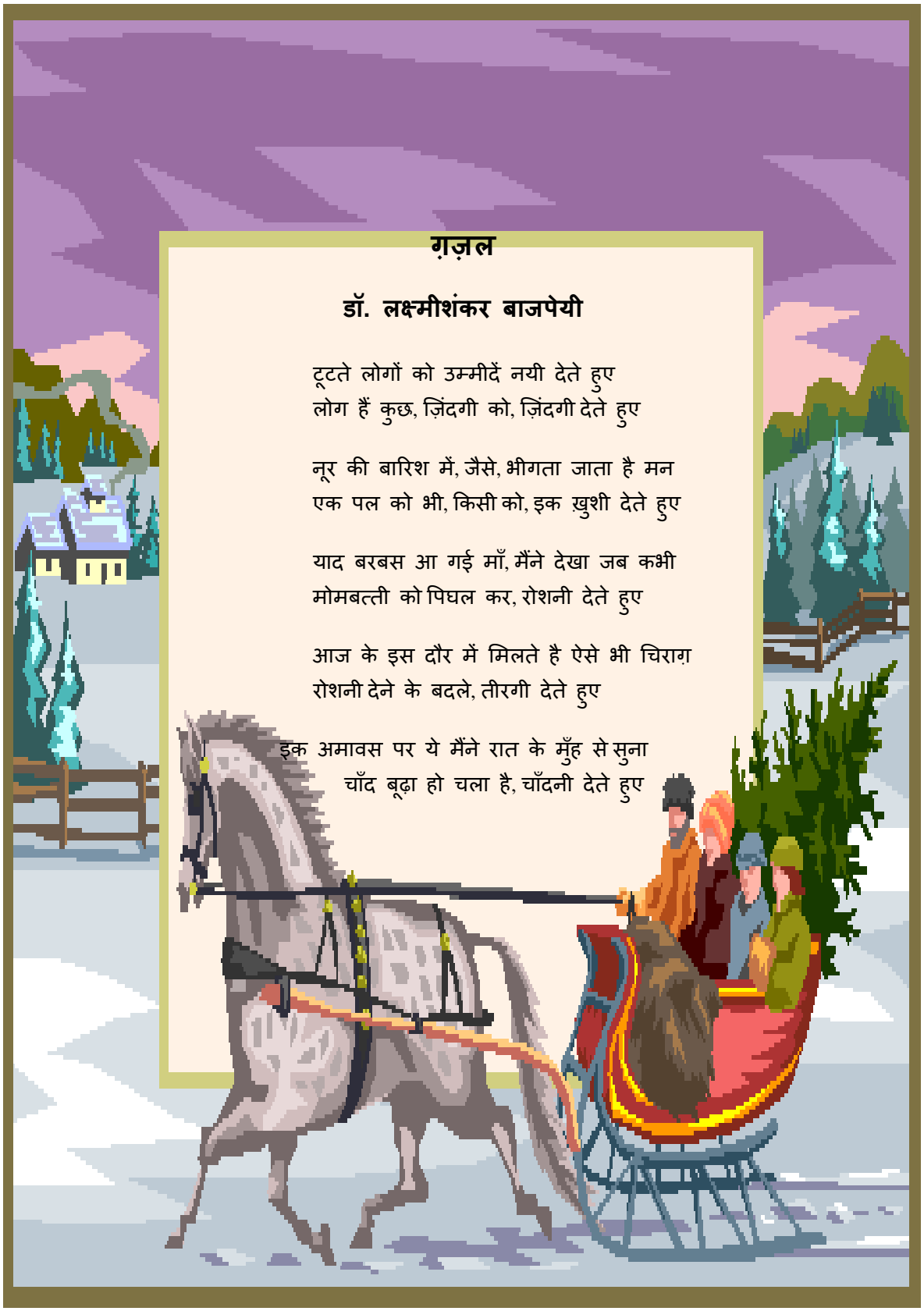

ग़ज़ल

डॉ. लक्ष्मीशंकर बाजपेयी

टूटते लोगों को उम्मीदें नयी देते हुए
लोग हैं कुछ, ज़िंदगी को, ज़िंदगी देते हुए

नूर की बारिश में, जैसे, भीगता जाता है मन
एक पल को भी, किसी को, इक ख़ुशी देते हुए

याद बरबस आ गई माँ, मैंने देखा जब कभी
मोमबत्ती को पिघल कर, रोशनी देते हुए

आज के इस दौर में मिलते है ऐसे भी चिराग़
रोशनी देने के बदले, तीरगी देते हुए

इक अमावस पर ये मैंने रात के मुँह से सुना
चाँद बूढ़ा हो चला है, चाँदनी देते हुए

वह हिंदी है, हिंदी रहने दो!

भावना सक्सेना

अर्धशती भी पार नहीं है,
कितना बदल गए हैं कब से!
वह तो सदियों चल आई है,
तो भी बदली नहीं बहुत है।
क्यों फिर उसकी सिलवट तुमको
भाषा अलग नई लगती है?

दूर देश जब पहुँचे तुम तो,
साड़ी धोती छूट गयी सब.
वह भू के कोने कोने में,
अब भी अपने ही वसनों में!
व्यसन रहें कितने भी तुम में,
तो भी जुड़े हुए हो जड़ से!
उसने कुछ अपनाए तो
नाम नया क्यूँ दे डाला है?

घर की देहरी जब छोड़ी उसने,
सकुचाई कुछ शरमाई थी
लेकर मुट्ठी में साहस बस,
सागर पार चली आई थी।
कई माह की यात्रा दुष्कर
कष्ट कठिन से कठिन भयंकर!
ला छोड़ा बीहड़ में, फिर भी
देख उजाड़ न घबराई थी।

रीत पुरानी सीख सुहानी,
अपनाकर बस,
हाथ बढ़ाया, गले लगाया।

कठिन तपस्या, कड़ी साधना
हिंदी ने घर यहाँ बनाया।
सुगृहिणी सा जोड़ जोड़ कर
कुशल एक संतुलन बनाया।

जरा रूप रंग बदल गया है,
पहनावा कहीं उधार लिया है,
पर हिंदी है,
सरनामी, बात फ़िजी की, नैताली,
कहते तुम जिसको,
वह हिंदी है!

रची बसी है दिलों में कितने,
कितने नित अपनाते हैं।
कितने इसके ही कारण से
रोजी रोटी पा जाते हैं।
देश में हो, विदेश रहो या,
इसे कमान लिए रहने दो,
मत रेल चलाओ एक्सप्रेस कोई,
अलग अलग मत बाँटो गुट में,
एक कमान में रहने दो।
तब होगी वह आगे सबसे
विश्व फ़लक पर लहराएगी,
होगी सबसे अधिक ज़ुबान पर
विश्व भाषा कहाएगी।
परिवर्तन तो नियम पुराना
कुछ परिवर्तन हो जाने दो,
कहो नई मत भाषा उसको,
हिंदी है,
हिंदी रहने दो!

डॉ. हरिवंश राय बच्चन को लोकप्रिय बनाने में पाठकों की भूमिका

डॉ. राज शेखर

"भावुकता अंगूर लता से खींच कल्पना की हाला,
कवि साक़ी बनकर आया है भरकर कविता का प्याला;
कभी न कण भर खाली होगा लाख पिएँ, दो लाख पिएँ।
पाठक गण हैं पीनेवाले, पुस्तक मेरी मधुशाला।"[१]

जैसी पंक्ति लिखने वाले बच्चन जी ने जब पहली बार दिसंबर, सन् १९३३, शिवाजी हाल, काशी हिंदू विश्वविद्यालय में *मधुशाला* का पाठ किया तभी इसने अपने सर्जक को लोकप्रिय बना दिया। इस लोकप्रियता के संबंध में बच्चन जी ने स्वयं स्वीकार किया है : "मैं तो प्रसिद्ध होकर ही साहित्य क्षेत्र में आया था। 'मधुशाला' लिखी नहीं है कि रातोंरात प्रसिद्ध हो गया। दूसरे दिन वह सबकी जबान पर थी।"[२]

आखिर *मधुशाला* और उसके लेखक में ऐसा क्या था? जो इतना लोकप्रिय हुआ। वास्तव में एक साधारण व्यक्ति से असाधारण व्यक्ति बनने का नाम बच्चन है। बच्चन जी ने अपने शुरुआती जीवन में काफ़ी संघर्ष किया था। यह संघर्ष जीवन-मरण का था। यही जीवन का संघर्ष उनकी कविता में भी उभरकर आया है। वे इस संबंध में अजित कुमार से कहते हैं : "मेरा जीवन इतनी गरीबी में बीता है और मैंने अन्न की इतनी कमी महसूस की है कि आज भी मैं अन्न का एक दाना भी फिंकते हुए देखता हूँ तो मुझे तक़लीफ़ होती है।.... कभी रोटी है तो दाल नहीं और कभी दाल है तो रोटी नहीं। इस तरह की ज़िंदगी बितायी मैंने। प्रारंभिक रचनाओं में मेरी कविता है कि रूखी रोटी खाता हूँ और देवताओं के साथ अमृत पीता हूँ। मैं सचमुच ही रूखी रोटी खाता था।"[३]

ये रूखी रोटी वाली स्थिति भारत में उस समय अधिकांश लोगों की थी। हमारा देश भारत परतंत्र था और अधिकांश युवा आजादी लाने और अपना अस्तित्व कायम करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। इस संघर्ष में हरिवंशराय बच्चन भी शामिल थे। बच्चन जी के जीवन में जिस तरह का सुख-दुख था, वह अधिकांश व्यक्ति के जीवन में था। इन्हीं व्यक्तियों के बीच से उन्हीं के सुख-दुख की भाषा में बोलनेवाला व्यक्ति जब उभरकर सामने आता है तो वह रातोंरात लोकप्रिय हो जाता है। जब कवि *मधुशाला* को अपना स्वर कंठ देता है तो वह सामान्य जन के सुख-दुख का स्वर कंठ बन जाता है। ऐसी आत्मीयता बच्चन जैसा संघर्षशील कवि ही दे सकता था। यहाँ पर *मधुशाला* को लेकर बात करने का प्रमुख कारण यह है कि यही रचना उनकी लोकप्रियता की पृष्ठभूमि तैयार करती है। *मधुशाला* को ध्यान से पढ़ा जाए तो स्पष्ट होता है कि इस रचना में सबके लिए सब कुछ है– जीवन, यौवन, प्यार, प्रीति, शृंगार, स्वप्न, सत्य, आशा, आकांक्षा, निराशा, संघर्ष – अर्थात् उन सब चीजों का जो मानव को मथती-विचलित करती हैं— "जिसकी जैसी रुचि थी उसने वैसी देखी मधुशाला।"

निश्चय ही *मधुशाला* में वह लय है, जिसने पाठकों का दिल जीत लिया। जब *मधुशाला* का स्वर पाठ करते थे तो श्रोता भी इनकी आवाज़ में आवाज़ मिलाकर गाने लगते थे। वे ऐसा इसलिए कर रहे थे क्योंकि उन्हें उनका अपना जीवन मिल रहा था। बच्चन जी ने स्वयं *मधुशाला* की लोकप्रियता पर कहा है: " 'मधुशाला' का विद्रोह राष्ट्रीय स्वाधीनता-आंदोलन में निहित विद्रोह की ही प्रतिध्वनि है। मध्ययुगीन संस्कारों, मान्यताओं, कुरीतियों और अंधविश्वासों के प्रति विद्रोह की आवाज़ 'मधुशाला' में उठाई गई है। दासता में बँधे हमारे मध्ययुगीन मन को मुक्त करने की आवाज़ उसमें है और इसी कारण वह जनता में इतनी लोकप्रिय हुई है। कारण कि दबी-ढँकी और बँधी हुई जन-भावनाओं को 'मधुशाला' में मुक्ति का खुला द्वारा दिखाई देता है।"[४]

यही मुक्ति का खुला द्वार देखकर श्रोतागण बच्चन जी के दीवाने हो गए। बच्चन जी जहाँ भी जाते, उनकी *मधुशाला* और उस *मधुशाला* के श्रोता उनका पीछा नहीं छोड़ते। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। इस प्रसिद्धि से हिंदी साहित्य की काव्य-विधा का भी बड़ा फायदा हुआ। अब हिंदी कवियों को भी विशाल पाठक वर्ग मिलना शुरू हो गया। इसी कारण नामवर सिंह ने कहा है: "बच्चन जी की सबसे बड़ी देन है कि उन्होंने हिंदी कविता को आम जनता तक पहुँचाया और श्रोता और पाठक तैयार करने का काम किया..... बच्चन जी ने वो काम किया जो उनके पहले हिंदी में किसी ने नहीं किया था। आज के दौर में देखें तो सचमुच वो दौर खत्म हो चुका है। इसीलिए मैंने कहा कि 'अब न रहे वो पीने वाले, अब न रही वो मधुशाला'।"[५]

मधुशाला के प्रकाशन के बाद पाठकों को उनकी अग्रिम रचनाओं का इंतज़ार रहता था। बच्चन जी ने भी *मधुशाला* की गर्मी को समाप्त नहीं होने दिया। वे हमेशा पाठकों के बीच थोड़े-थोड़े अंतराल पर अपनी रचनाओं को लेकर पहुँच जाते थे। यह प्रक्रिया बच्चन जी की आत्मकथा के अंतिम खंड *दशद्वार से सोपान तक* बनी रही। उनकी रचनाओं के प्रकाशन का काल १९३२ ई. से लेकर १९८५ ई. तक लगभग ५३ वर्षों का रहा। वे साहित्य के क्षेत्र में

निरंतर बने रहने के लिए निम्न बातों पर बल देते हैं: "साहित्यिक 'कैरियर' बनाने के लिए जो कई बातें ज़रूरी हैं, उनमें से एक यह भी है। जैसे नियमित रूप से लिखते रहना, एक के बाद दूसरी पुस्तक प्रकाशित करना, अपना विकास करते जाना आदि आवश्यक है, उसी तरह यह भी कि आपकी रचना में ऐसी कुछ बात हो जो बहुतों को आनंदित करने के साथ ही कुछ लोगों को कोंचती-कुरेदती भी रहे।"[६]

बच्चनजी ने 'कोंचती-कुरेदती' वाली बात जो लिखी वह *मधुशाला* से लेकर उनकी आत्मकथा तक लागू होती है। उनकी रचना का जितना प्रचार उनके विरोधियों ने किया है, उतना उनके प्रेमियों ने नहीं। इसलिए लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचने के लिए साहित्यिक विरोध का भी अपना महत्त्व है। इसी विरोध के फलस्वरूप उनकी रचनाओं का जितना समर्थन उनके पाठकों ने किया, उतना आलोचना ने नहीं। बच्चनजी का चारों तरफ से विरोध होना स्वाभाविक था, क्योंकि इतनी कम अवस्था में लगभग २६-२७ वर्ष में *मधुशाला* की मार्फ़त लोकप्रिय हो जाना कम बड़ी बात नहीं थी।

मधुशाला की लोकप्रियता इतनी ज्यादा थी कि श्रोतागण हमेशा इसी कविता को सुनाने की माँग करते थे। यदि नहीं सुनाते तो श्रोतागण काफी नाराज़ होते थे। कई बार वे हूट भी किए गए थे। अजित कुमार ने लिखा है कि "अभी २३ जनवरी को लाल किले में जो वार्षिक कवि-सम्मेलन हुआ था, उसका हाल मेरे सहयोगियों ने मुझे बताया। बच्चन जी ने 'ध्वस्त पोत' नामक कविता सुनायी थी और बुरी तरह 'हूट' किए (उखाड़े) गए थे।"[७]

हूट किए जाने का कारण ये रहा होगा कि जनता ने *मधुशाला* सुनाने को कहा होगा और वे अपनी कोई और कविता सुना रहे होंगे। अजित कुमार ने इसी प्रसंग में लिखा है कि "हठपूर्वक उक्त कविता सुनाने के बाद, बच्चन जी ने मधुशाला भी सुनाई और जनता का मन रक्खा। ज़ाहिर है कि पहली कविता पर भयंकर शोर मचानेवाली जनता ने मधुशाला को अत्यंत तन्मय होकर सुना।"[८]

स्पष्ट है कि श्रोताओं में *मधुशाला* का ज्वर हमेशा चढ़ा रहा जबकि बच्चन जी एक के बाद एक अच्छी रचना करते गए। उनकी रचनाशीलता पर राजकिशोर ने लिखा है: "अपने परवर्ती दिनों में बच्चन जी को जरूर अफसोस होता होगा कि रचनाशीलता की दुनिया में वे तो लगातार आगे बढ़ते गए, नई ऊँचाइयाँ हासिल करते गए, पर उनके श्रोता और पाठक अपनी पहलेवाली जगह से टस से मस नहीं हुए। जब बच्चन जी अपनी ताजा कविताएँ सुनाना चाहते थे, उनके श्रोता मधुशाला, मधुशाला की रट लगाए रखते थे।"[९]

जब बच्चन जी लोकप्रिय होने लगे तब उनके समर्थकों के पत्र आने शुरू हो गए। इतने समर्थकों की तुलना में उनके विरोधियों की संख्या अंशमात्र थी। फिर क्या था, बच्चन जी ने अपने जीवन के सुख-दुख का साथी अपने पाठकों को बना लिया और लगातार पत्राचार के माध्यम से उनके संपर्क में बने रहे। बच्चन जी की यह ख़ासियत रही है कि वे आए हुए सभी पत्रों का ज़वाब अवश्य देते थे। उनके जीवन का जितना काल उनके सर्जन का है, उससे कहीं ज्यादा काल उनके द्वारा लिखे गए पत्रों का है। अजित कुमार ने उनके पत्राचार के बारे में लिखा है: "स्कूलों-कॉलेजों के विद्यार्थियों, दफ्तरों में छोटा-मोटा काम करने वाले लोगों और भावुक तथा नवोदित कवियों के इसी तरह के पत्र आते ही रहते हैं बच्चन जी के पास। वे प्रत्येक का उत्तर देते हैं और उन्हें अपने साहित्य की किसी भी चर्चा या समालोचना से कहीं अधिक खुशी और तृप्ति होती है, इस तरह के पत्र पढ़कर। अपनी कविता की शक्ति का स्रोत और प्रमाण उनको यहीं मिलता है। और यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनकी कविता का जादू कितनी-कितनी दूर और जनता के किन-किन स्तरों तक पहुँचा है।"[१०]

बच्चन जी के द्वारा लिखे गए पत्रों से प्रकट होता है कि इसमें केवल उनकी रचनाओं की चर्चा ही नहीं होती थी। कभी कोई व्यक्ति बच्चन जी के जीवन के सुख-दुख के बारे में पूछता था तो कभी अपने जीवन का सुख-दुख बतियाता था। बच्चन जी पत्रों के माध्यम से अपने बारे में भी बताते थे और दूसरों के सुख-दुख में शामिल भी होते थे। कभी-कभी ज़रूरतमंद व्यक्ति को रुपयों के द्वारा सहायता भी करते थे। कभी पुस्तक भेजते थे। अपने आवास पर आने वाले हर व्यक्ति से मिलते थे। अक़सर लोग पत्रों के माध्यम से पूछा करते थे कि अब आपकी अगली रचना कब आएगी। बच्चन जी सभी को उनकी आवश्यकतानुसार सारी सूचनाएँ देते थे। बच्चन जी द्वारा सैकड़ों पत्र पानेवाले रामनिरंजन परिमलेंदु के शब्दों में : "बच्चन जी अपने साहित्य के संबंध में अपने पाठकों की प्रतिक्रियाओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थे। उन्होंने अपने विशाल पाठक वर्ग की कभी उपेक्षा नहीं की। सुदूर क्षेत्रों से भी यदि किसी अज्ञात और अपरिचित पाठक ने उन्हें साधारण पत्र या पोस्टकार्ड लिखा तो उसका उत्तर वे विनम्रतापूर्वक तत्क्षण देते थे। अतएव उनके बहुसंख्यक पत्र आज भी दूर-दराज़ के अनेक ज्ञात-अज्ञात पाठकों, श्रोताओं और साहित्यकारों के यहाँ मिल सकते हैं।"[११]

इस प्रकार उनके पत्रों के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि वे काफ़ी भावुक और उदात्त व्यक्तित्व वाले कवि थे। सभी पाठकों के साथ आत्मीयता का संबंध उनके जैसा ही संघर्ष से तपकर निकलने वाला व्यक्ति कर सकता था। निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि उन्हें लोकप्रिय बनाने में उनकी रचनाओं की गुणवत्ता के साथ-साथ, उनके द्वारा लिखे गए हजारों पत्रों ने भी अहम भूमिका निभाई। उन्होंने पाठकों को अपनापन दिया और पाठकों

ने उनको अपना हृदय सम्राट बनाया। इस तरह उनकी रचनाओं का बहुत बड़ा पाठक वर्ग तैयार हुआ। बच्चन जी पाठकों की नब्ज़ को अच्छी तरह पहचानते थे। वे पहले अपनी कविताओं को काव्य मंच से गाकर लोगों में लोकप्रिय बना देते थे, फिर उसको प्रकाशित कराते थे। इस संबंध में उन्होंने स्वयं कहा है : "यह पुस्तक प्रकाशक को अगले वर्ष देंगे। तब तक सभी गीत पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकेंगे, उनका पारिश्रमिक मिल चुकेगा, दो-चार कवि-सम्मेलनों में गाकर उन्हें लोकप्रिय बना देंगे और पाठक पुस्तक की प्रतीक्षा आतुरता के साथ कर रहे होंगे।"[१२]

बच्चन जी यह कार्य अपनी प्रायः सभी रचनाओं के साथ करते थे। उदाहरण के लिए, *मधुशाला* का पाठ उन्होंने १९३३ ई. से ही करना शुरू कर दिया था। जब देखते-ही-देखते वह रचना लोगों की ज़बान पर आ गयी तब इसका प्रकाशन १९३५ ई. में कराया। रचनाओं को लोकप्रिय बनाने हेतु बच्चन जी के द्वारा अपनाए गए तरीकों का यह संक्षिप्त उदाहरण है। यदि इस पर कभी विस्तृत शोध कार्य किया जाए तो हिंदी साहित्य जगत के विकास के लिए यह काफ़ी उपयोगी होगा। *मधुशाला* प्रकाशित होने के साथ ही यह हाथो-हाथ बिक गयी। माँगें ज्यादा बढ़ गयीं और संस्करण पर संस्करण निकलते गये। अभी तक इस रचना के पचासों से ज्यादा संस्करण हो गए हैं। नए संस्करण निरंतर जारी हैं। बच्चन जी के जीवित न रहने के बावजूद भी *मधुशाला* की लोकप्रियता का ग्राफ़ कम नहीं हुआ है, बल्कि बढ़ा है। अभी-भी नये पाठक वर्ग *मधुशाला* से जुड़ते जा रहे हैं। अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद हो जाने के बाद इसके पाठकों की संख्या निरंतर बढ़ती ही जा रही है। यही स्थिति कमोवेश बच्चन जी की आत्मकथा की भी है।

इस प्रकार बच्चन जी अपनी कविताओं के माध्यम से काफ़ी लोकप्रिय हो गए और लोगों ने सहर्ष दिल से उन्हें अपना जनकवि मान लिया। अब लोगों की दिलचस्पी उनकी रचनाओं से होते हुए उनके व्यक्तिगत जीवन की ओर बढ़ी। यदाकदा लोग पत्र लिखकर उनसे उनके जीवन के बारे में, उनकी कविता की रचना प्रक्रिया के बारे में, उनके दुख-सुख के बारे में पूछने लगे। लोगों में जिज्ञासा बनी रही कि इतनी अच्छी कविता लिखने वाले व्यक्ति का जीवन कैसा है? जिज्ञासा ने लोगों को बेचैन कर दिया और जब बच्चन जी ने अपने जीवन में लोगों की बढ़ती हुई दिलचस्पी को देखकर अपनी आत्मकथा का पहला भाग *क्या भूलूँ क्या याद करूँ* लिखा तब साहित्य जगत में मानो उबाल सा आ गया। सारी प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गयीं। एक ही साल में इस खंड के तीन संस्करण प्रकाशित हो गए। *क्या भूलूँ क्या याद करूँ* पढ़कर पहली बार लोगों को पता चला कि असाधारण सा दिखनेवाला यह कवि भी उन्हीं के जैसा साधारण रहा है। इस कवि का जीवन-संघर्ष भी उन्हीं के जीवन-संघर्ष जैसा है। यह भी व्यक्ति रोटी, कपड़ा और मकान के लिए संघर्ष कर रहा है। बच्चन जी पुनः लोकप्रियता के चरमोत्कर्ष शिखर पर थे।

अब यहाँ भी लोकप्रिय कवि बच्चन जी की चतुरता देखिए। उन्होंने पहले खंड की ही भूमिका में घोषणा कर दी कि "'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' मेरी पूरी योजना का एक तिहाई भाग है। इतने ही बड़े दो और भाग यथासमय आपके सामने आएँगे – 'नीड़ का निर्माण फिर' और 'जीवन की आपाधापी में', यदि समय और स्वास्थ्य ने साथ दिया।"[१३] इस घोषणा से पाठकों को यह उम्मीद बनी कि बच्चन जी के जीवन में आगे क्या होगा – इसे जानने का अवसर अगले खंड से मिलेगा। बस, फिर क्या था? अभी पहले खंड का ज्वर उतरा भी नहीं था कि लोगों ने दूसरे खंड की माँग शुरू कर दी। बच्चन जी कहाँ पीछे हटनेवाले थे। एक साल के अंदर पाठकों के सामने दूसरा खंड भी प्रस्तुत कर दिया। देखते ही देखते एक लोकप्रिय कवि एक लोकप्रिय आत्मकथाकार के रूप में स्थापित हो गया। बच्चन जी ने अपनी आत्मकथा के प्रत्येक खंड में उत्सुकता बनाये रखी और यही कारण था कि एक के बाद एक खंड का लोगों को इंतजार रहता था। इस प्रकार बच्चन जी ने अपने जीवन-चरित्र के चारों खंडों को प्रकाशित कर लोगों की जिज्ञासा और उत्सुकता को समाप्त कर अपने लेखन कार्य की इतिश्री कर दी।

बच्चन जी की आत्मकथा की लोकप्रियता का सबसे बड़ा आधार उसकी अंतर्वस्तु में निहित है। आत्मकथा जिस ढंग से प्रस्तुत की गई है उसमें लोक जीवन के रंग उभरकर सामने आए हैं। लोकतत्त्व की प्रमुखता ने आत्मकथा को जीवंतता प्रदान की है। बच्चन जी ने जीवंतता प्रदान करने के लिए अपनी कथा सहज, सरल एवं अवध की लोकसंस्कृति से पोषित भाषा में कही। यह बच्चन जी की ख़ास भाषा ही थी, जिसने काव्य से लेकर गद्य निर्माण तक इतने व्यापक स्तर पर पाठकों से जुड़ने में सफलता पहुँचायी। जब बच्चन जी कहते हैं कि 'लिखता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से', तो सचमुच उनकी रचनाओं से पाठकों को प्रयाग नगर की सौंधी खुशबू आती है। यह खुशबू उनकी भाषा से लेकर संवेदना तक है। पाठकों को यही खुशबू इतनी पसंद आती है कि बच्चन जी सबके चहेते बन जाते हैं। भाषा के अतिरिक्त बच्चन जी को लोकप्रिय बनाने में और भी कारण थे। रामकमल राय के कथनानुसारः "यह सच है कि बच्चन जी तत्कालीन लोकमानस में इतने व्यापक और गहरे स्तरों पर केवल भाषा के ही बल पर नहीं उतर सके थे। इसमें दो-तीन तत्त्व और भी अपना योगदान कर रहे थे – विशेषकर बच्चन जी का स्वर माधुर्य। बच्चन जी अपने गीतों को झूम-झूम कर गाते थे और उनके स्वर का माधुर्य इतना जादुई था कि लोग उनके गीतों को सुनकर झूम उठते थे। किंतु श्रोता के मन में वे गीत स्थायी भाव से अपनी जगह इसलिए बना पाते थे कि उसकी भाषा नितांत अपनी भाषा होती थी और उनकी संवेदना उनके मन को गहराई से छूनेवाली

होती थी। जब बच्चन जी गाते थे—"तुम छू दो मेरे प्राण अमर हो जाएँ" अथवा "तुम गा दो मेरे गान अमर हो जाएँ" तो श्रोता के मन में ये पंक्तियाँ सीधे उतर आती थीं।"[१४]

अपने पिता बच्चन जी की उपलब्धियों पर अमिताभ बच्चन ने कहा है : "हम फिल्मी कलाकारों का क्या है आज सबने सिर आँखों पर बिठाया हुआ है, कल कोई हमसे बेहतर कलाकार आ जाएगा तो वह हमें भुला भी सकते हैं, पर साहित्य में ऐसा नहीं होता न! सूर, तुलसी, कबीर आज भी जिंदा हैं। प्रेमचंद, प्रसाद, निराला कल भी पूजा जाएँगे। मेरे बाबूजी भी साहित्याकाश में एक उज्ज्वल नक्षत्र की तरह हमेशा चमकते रहेंगे। यह मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है कि मैंने उन्हें पिता के रूप में पाया।"[१५]

सच में ऐसे थे बच्चन जी। वे अपनी रचनाओं के माध्यम से एक साधारण व्यक्ति से असाधारण व्यक्ति बन लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचे। उन्होंने लेखक, पाठक और रचना के बीच एक सहसंबंध स्थापित कर हिंदी साहित्य जगत में मिसाल कायम किया। इसी सहसंबंध के तहत वे और उनकी रचनाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं। इन सबके बीच में सबसे बड़ी बात ये रही कि उनकी लोकप्रियता के निर्माण में आलोचकों की कोई सकारात्मक भूमिका नहीं रही। साथ ही, उन्होंने अपनी लोकप्रियता की मार्फ़त हिंदी साहित्य-जगत को काव्य-विधा के लिए इतना बड़ा पाठक वर्ग दिया। कविताओं के प्रति आम जनता की रुचि इतनी बढ़ी कि वे भी कविता लिखने लगे और कवि सम्मेलनों में श्रोता के रूप में भाग लेने लगे। कविता अभिजात्य वर्ग से उठकर सर्वसाधारण वर्ग तक पहुँची। इतना ही नहीं, जब उन्होंने आत्मकथा लिखी तब पहली बार पाठकों को यह एहसास हुआ कि इसमें चित्रित अधिकांश घटनाएँ उनके जीवन जैसी मालूम होती हैं। इसमें केवल एक 'लोकप्रिय कवि का जीवन संघर्ष ही नहीं', बल्कि ज़िंदगी कैसे सँवारी जाती है, उसकी प्रेरणाएँ भी थीं:

''यह महान दृश्य है–
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ!
अग्नि पथ! अग्नि पथ! अग्नि पथ!''[१६]

संदर्भ संकेत

१ *मधुशाला,* बच्चन, राजपाल एण्ड सन्ज, ५१ वां संस्करण, २००४, पृ.२६

२ वही, पृ.७

३ *कविवर बच्चन के साथ,* अजित कुमार, पृ.१२१

४ वही, पृ.१०७

५ बच्चन जी ने कविता को आमजन तक पहुँचाया, नामवर सिंह, BBC.HINDI.com

६ *कविवर बच्चन के साथ,* अजित कुमार, पृ.४४

७ वही, पृ.२१६

८ वही, पृ.२१६

९ गंभीर बनाम लोकप्रिय, राज किशोर, *राष्ट्रीय सहारा,* २ अगस्त २००९, पृ.१०

१० *कविवर बच्चन के साथ,* अजित कुमार, पृ.४८

११ *बच्चन : पत्रों के दर्पण में,* संपा. रामनिरंजन परिमलेन्दु, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली–११०००२, प्रथम संस्करण : २००९, पृ.११

१२ *कविवर बच्चन के साथ,* अजित कुमार, पृ.५२

१३ भूमिका, *क्या भूलूँ क्या याद करूँ,* बच्चन,

१४ *हरिवंशराय बच्चन की साहित्य साधना,* सं. पुष्पा भारती में संकलित राजकमलराय के लेख 'बच्चन : काव्य–भाषा का जन–संस्कार' से उदधृत, पृ.२५०-२५१

१५ 'अमिताभ की यादों में बच्चन जी', पुष्पा भारती, 'हम तुम', *हिंदुस्तान,* २५ नवंबर २००७

१६ *मेरी श्रेष्ठ कविताएँ,* बच्चन, पृ.११६-११७

अबकी बार लौटा तो

कुँवर नारायण

अबकी बार लौटा तो
बृहत्तर लौटूँगा
चेहरे पर लगाए... नोकदार मूँछें नहीं
कमर में बाँधे लोहे की पूँछें नहीं
जगह दूँगा साथ चल रहे लोगों को
तरेर कर न देखूँगा उन्हें
भूखी शेर-आँखों से

अबकी बार लौटा तो
मनुष्यतर लौटूँगा
घर से निकलते
सड़कों पर चलते
बसों पर चढ़ते
ट्रेनें पकड़ते
जगह बेजगह कुचला पड़ा
पिद्दी-सा जानवर नहीं
अगर बचा रहा तो
कृतज्ञतर लौटूँगा

अबकी बार लौटा तो
हताहत नहीं
सबके हिताहित को सोचता
पूर्णतर लौटूँगा.

व्यंग्य का सही दृष्टिकोण - हरिशंकर परसाई

डॉ. प्रेम जनमेजय

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को एक रेखा साफ़-साफ़ विभाजित कर रही है और वह रेखा है देश की आज़ादी की। आज़ादी के कारण परिस्थितियाँ बदलीं तो रचनाकार के सोचने का तरीका भी बदला। आज़ादी से पहले की सोच तथा आज़ादी के दस साल बाद की सोच में पर्याप्त अंतर आया। जिस आज़ादी के प्रति मोह था वह भंग होने की स्थिति में आ पहुँचा। वैचारिक दृष्टि से ही नहीं अन्य अनेक दृष्टियों से भारतीय परिवेश में परिवर्तन लक्षित हुए।

साहित्यिक विधाओं में भी एक अंतर दिखाई देता है। आधुनिक काल के आरम्भिक समय में जहाँ कविता एकछत्र राज्य करती थी, वहीं गद्य के प्रवेश ने धीरे-धीरे स्वयं को बराबरी के स्तर तक पहुँचाया। प्रेमचंद के माध्यम से हिंदी कथा साहित्य का आरम्भ और विकास, भारतेंदु और प्रसाद के द्वारा नाटक का आरम्भ और विकास, रामचंद्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि के माध्यम से आलोचना का आरम्भ तथा विकास हुआ। इस तरह के विकास गद्य की अन्य विधाओं में भी हुए और यह इन्हीं विकासों का परिणाम है कि आलोचकों ने आधुनिक युग को गद्य-युग भी कहा।

गद्य को कवियों की कसौटी माना जाता है। यदि गद्य कविता की कसौटी है तो व्यंग्य गद्य की कसौटी है। कविता को अपना रूप निखारने के लिए वर्षों का समय मिला है। इसके मुकाबले गद्य ने अल्पकाल में ही बहुमुखी विकास किया है। व्यंग्य का सही स्वरूप तो स्वतंत्रता के बाद ही उभर कर आया है। स्वतंत्रता से पहले जो व्यंग्य रचना में ध्वनित मात्र होता था, आज़ादी के बाद वही रचना के रूप में विकसित दृष्टिगत् होता है। हरिशंकर परसाई के शब्दों में कहें तो शूद्र व्यंग्य को ब्राह्मण का दर्जा मिला। इससे पहले कविता कहानी नाटक आदि में व्यंग्य आ जाता था। तथा व्यंग्य की पहचान हास्य के सहयोगी के रूप में अधिक की जाती थी। परन्तु इस सहयोग ने व्यंग्य को पर्याप्त हानि भी पहुँचाई। मंच के मोह में फूहड़ तथा हास्यास्पद रचनाओं के उत्पादन ने आलोचकों को यह धारणा बनाने के लिए विवश किया कि हास्य दोयम दर्जे का साहित्य होता है। यही धारणा सम्पूर्ण हास्य-व्यंग्य साहित्य के लिए बन गई।

हिंदी में सार्थक तथा गंभीर व्यंग्य की शुरूआत गद्य में हुई। कबीर और भारतेन्दु ने सामाजिक विसंगतियों पर दिशायुक्त प्रहार करने की जो परम्परा आरम्भ की थी उसे हरिशंकर परसाई ने अपने लेखन द्वारा और अधिक सशक्त किया। परसाई ने पहली बार व्यंग्य को उसके सही रूप में पहचान दिलाई। अपने आरंभिक वक्तव्यों में परसाई ने निरंतर इस बात पर बल दिया कि व्यंग्य और हास्य दोनों अलग अलग हैं। परसाई ने व्यंग्य के नाम पर हास्य के भौंड़े रूप की रचनात्मक अभिव्यक्ति का निरंतर विरोध किया।

व्यंग्य के प्रति हिंदी के आलोचकों की उपेक्षा पर भी उन्होंने व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ कीं। परसाई का मूल विरोध ऐसे आलोचकों से था जो व्यंग्य को हास्य के साथ जोड़ते हैं तथा उसे दूसरे दर्जे का साहित्य मानते हैं। परसाई एक दृष्टि सम्पन्न रचनाकार थे, इसलिए वह इस संदर्भ में सतर्क थे कि किस पर व्यंग्य किया जाए और किस पर नहीं। उनकी मान्यता थी कि अच्छा व्यंग्य करुणा उपजाता है। अतः व्यंग्य में आवश्यक नहीं है कि हँसी आए।

यह हरिशंकर परसाई की चेतना सम्पन्न दृष्टि का परिणाम था कि हिंदी गद्य में सार्थक व्यंग्य लेखन की शुरूआत हुई। बाद में श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, रवीन्द्र नाथ त्यागी, मनोहर श्याम जोशी, नरेन्द्र कोहली, शंकर पुणताम्बेकर, गोपाल चतुर्वेदी, लतीफ घोघी आदि ने इसे और अधिक सुदृढ किया और स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी गद्य व्यंग्य निरंतर ऊँचाइयों की ओर बढता गया।

हरिशंकर परसाई के लेखन ने एक पूरे युग को प्रभावित किया है। परसाई का जीवन को देखने का एक अलग दृष्टिकोण था, एक ऐसा दृष्टिकोण जो कबीर की तरह मुराडा लिए हर तरह के पाखंड का पर्दाफाश करने को तत्पर था। परसाई ने एक ऐसी शैली का निर्माण किया जो अपनी अभिव्यक्ति में प्रखर, बिना लाग लपेट के सीधे बात कहने वाली तथा सार्थक दिशापूर्ण चिंतन से युक्त थी। इस प्रहार में कोई मैल नहीं था अपितु पाश्चात्य आलोचक मेरीडेथ के शब्दों में कहें तो एक सामाजिक ठेकेदार का रूप था जो सामाजिक सफ़ाई में विश्वास करता है। एक साक्षात्कार के दौरान परसाई जी ने मुझसे कहा भी था - व्यंग्यकार के अंदर मैल नहीं होना चाहिए।

हरिशंकर परसाई के लेखन में व्यंग्य ऋणात्मक नहीं है। अपने समय की राजनीतिक, शैक्षिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक विसंगतियों पर परसाई नें जो व्यंग्य किए हैं उनमें एक ईमानदार व्यक्ति द्वारा बिना किसी लाग लपेट के ऐसी विसंगतियों पर प्रहार है, जो मानव विरोधी हैं। एक झोंक में हर किसी पर आक्रमण करते चले जाना परसाई की प्रवृत्ति नहीं है। उनके लेखन में एक गहरी करुणा छिपी है जो पाठक को सही चिंतन की ओर मोड़ती है। परसाई की एक रचना है "अकाल - उत्सव", मैं जब भी इस रचना को पढ़ता हूँ रौंगटे खड़े हो जाते हैं। रचना का शीर्षक ही व्यंग्य की सृष्टि करता है। प्रस्तुत व्यंग्य के द्वारा परसाई की रचनात्मक शक्ति तथा उनकी वैचारिक सोच की झलक मिल जाती है।

इस रचना में स्पष्टतः परसाई दबे तथा साधनहीन सबके के साथ खड़े दिखाई देते हैं। वह लिखते हैं – "हड्डी - ही - हड्डी। पता नहीं किस गोंद से इन हड्डियों को जोड़कर आदमी के पुतले बनाकर खड़े कर दिए गए हैं। यह जीवित रहने की इच्छा ही गोंद है। यह हड्डी जोड़ देती है। सिर मील भर दूर पड़ा हो तो जुड़ जाता है। जीने की इच्छा की गोंद बड़ी ताकतवर होती है। पर सोचता हूँ यह जीवित क्यों हैं? ये मरने की इच्छा खाकर जीवित हैं। ये रोज कहते हैं - इससे तो मौत आ जाए अच्छा है।"

इस पीड़ा को बिना अपने जीवन का हिस्सा बनाए अभिव्यक्त कर पाना कठिन है। व्यंग्य को हास्य से जोड़ने वाले आलोचक यदि इस रचना में हास्य ढूँढने का प्रयास करेंगें, तो उन्हें निराशा ही होगी। व्यंग्य की करुणा में परिणति कैसे होती है, यदि इसकी तलाश किसी स्वनामधन्य आलोचक को करनी हो तो वह इस रचना का पाठ करे।

हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य के लिए हास्य की बैसाखी को कभी स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि उनके साहित्य में फूहड़ हास्य का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने व्यंग्यकार के रूप में स्वयं को फनीथिंग मानने से भी इंकार किया। ऐसे समय में जब हास्य - व्यंग्य रचनाकार के नाम पर मंच के आकर्षण से बँधे अनेक रचनाकार, जनता से सीधे जुड़ने का दंभ पाल व्यावसायिक हो रहे थे, परसाई ने इस मोह को पलने नहीं दिया। जिन लोगों ने परसाई के मौखिक व्यंग्य को सुना है, उनसे बातचीत की है, वे परसाई की वाक्-शक्ति को अच्छी तरह से जानते हैं।

परसाई ने स्तम्भ लेखन को भी एक नई दिशा दी। अपनी आर्थिक विवशताओं के कारण परसाई ने स्तम्भ लेखन की राह पकड़ी और इससे शुरू हुआ हिंदी पत्रकारिकता का एक नया दौर। धीरे धीरे व्यंग्य से परिपूर्ण व्यंग्य स्तम्भ पत्र पत्रिकाओं की आवश्यकता बन गए। अपने समय की विसंगतियों को समझने का इससे बढ़िया कोई माध्यम नहीं था। इस कार्य को अत्यधिक गति दी शरद जोशी ने। यह परम्परा आज इतनी 'गतिवान्' हो गयी है कि आज इसे थामने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस गति का शिकार हमारे यह दोनों अग्रज रचनाकार भी हुए। 'क्षण-भंगुर' रचनाओं के इस लेखन मोह ने इन्हें किसी बड़ी रचना के लेखन से दूर कर दिया। इसे मैं हिंदी साहित्य की अपूरणीय क्षति मानता हूँ।

आज इन दोनों रचनाकारों द्वारा प्रस्तुत किया गया यह मायाजाल अनेक नये रचनाकारों को अपनी गिरफ्त में बाँधे हुए हैं। परसाई और जोशी इस लेखन के ख़तरों से वाकिफ़ थे और एक परिपक्व

रचनाकार की दृष्टि से सामयिक घटनाओं को देख परख रहे थे। परन्तु आज के नये रचनाकारों में ऐसे लेखन के लिए आवश्यक चिंतन और विचारधारा गायब है। हरिशंकर परसाई ने हिंदी गद्य को एक नया रूप प्रदान किया है, एक ऐसी विधा से उसका परिचय कराया है जो अपने तेवर में प्रखर तथा पाठकों से सीधे जुड़ने वाली है। वह हिंदी साहित्य की गद्य परम्परा के एक महत्तवपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनकी चर्चा किए बिना गद्य साहित्य की ताकत का सही अंदाजा नहीं लगाया सकता है।

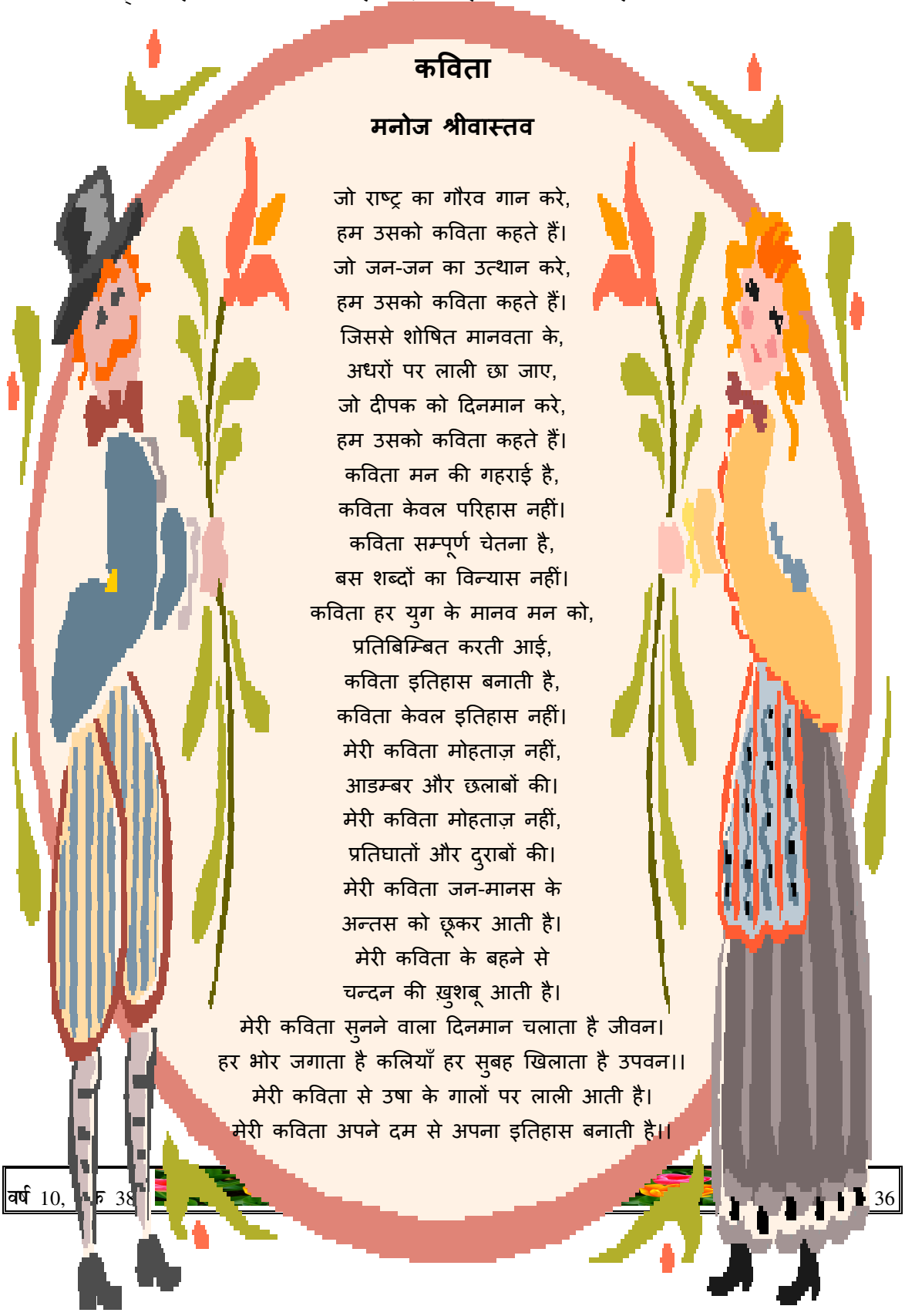

कविता

मनोज श्रीवास्तव

जो राष्ट्र का गौरव गान करे,
हम उसको कविता कहते हैं।
जो जन-जन का उत्थान करे,
हम उसको कविता कहते हैं।
जिससे शोषित मानवता के,
अधरों पर लाली छा जाए,
जो दीपक को दिनमान करे,
हम उसको कविता कहते हैं।
कविता मन की गहराई है,
कविता केवल परिहास नहीं।
कविता सम्पूर्ण चेतना है,
बस शब्दों का विन्यास नहीं।
कविता हर युग के मानव मन को,
प्रतिबिम्बित करती आई,
कविता इतिहास बनाती है,
कविता केवल इतिहास नहीं।
मेरी कविता मोहताज़ नहीं,
आडम्बर और छलाबों की।
मेरी कविता मोहताज़ नहीं,
प्रतिघातों और दुराबों की।
मेरी कविता जन-मानस के
अन्तस को छूकर आती है।
मेरी कविता के बहने से
चन्दन की ख़ुशबू आती है।
मेरी कविता सुनने वाला दिनमान चलाता है जीवन।
हर भोर जगाता है कलियाँ हर सुबह खिलाता है उपवन।।
मेरी कविता से उषा के गालों पर लाली आती है।
मेरी कविता अपने दम से अपना इतिहास बनाती है।।

प्रथम डेट

स्नेह ठाकुर

ड्रेसिंग टेबल के आगे खड़े हम दोनों अपनी-अपनी प्रथम डेट के लिए श्रृँगार कर रहे थे. अदिति अपने मंगेतर ऋतेश के लिए आकांक्षाओं से भरा दिल लिये, कँपकपाते हाथों से अपेक्षाओं को सहेजती हुई और मैं पीयूष के लिये आशंकाओं भरा दिल लिये, थरथराते हाथों से अनिश्चितता का दामन पकड़े. हम दोनों के होंठ यदा-कदा कुछ बुदबुदा देते हैं. एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े हो बात करने का साहस दोनों ही नहीं जुटा पा रहे हैं. दर्पण की छवि ही, बिना एक-दूसरे का सामना किये कभी-कभार कुछ बोल देती है.

चेहरे पर पाउडर लगाते अदिति ने ही पूछा, 'कौनसी साड़ी पहन रही हो माँ?'

'शायद नीली.....हल्की-सी जरी वाली.....' - 'नहीं-नहीं'..... वातावरण में गूँजे शब्द ख़ुद ही को अजीब लगे और बोल पड़ी, 'प्रिंटेड प्योर सिल्क वाली, क्यों ठीक होगी न? और हाँ मेक-अप कैसा है?' और पूछते ही इस विचार ने कौंधकर अधरों पर थोड़ी-सी मुस्कुराहट छिटका दी कि टीनेज़र लड़की से बेहतर सलाह डेट्स के श्रृँगार पर और कौन दे सकता है.

मेरी मुस्कुराहट ने अदिति को भी अछूता न छोड़ा, बोली - 'नहीं नीली ज़री वाली माँ; कुछ तो ग्लैमरस होना चाहिए ना!' और उसने मेरे गालों को हल्के-से मलकर 'रूज़' को न के बराबर कर दिया और 'आई-शैडो' को क़रीब-क़रीब मिटा ही दिया.

मैंने दर्पण में देखा तो भौहें अपने-आप ही सिकुड़ गयीं, 'अरे! यह तो 'मेक-अप' करने से पहले जैसी थी वैसी ही हो गयी हूँ!'

'हाँ माँ, यह तुम्हारा असली रूप ही है. आप ही ने तो हमें हरदम यह सिखाया है कि अंदर का रूप काउंट करता है, बाहर का नहीं. इट्स एन इंपोर्टेंट डेट, यू डोंट वांट टु गिव हिम रांग इम्प्रैशन.'

'अरे! तुम कब से मेरी बात सुनने लगी हो?'

'रिलैक्स मॉम, यू विल बी फ़ाइन', अदिति ने कहते हुये शरारत में कंधे उचका दिये, 'इट्स जस्ट ए डेट.....'

'अभी तो तुम कह रही थी कि 'इट्स वेरी इंपोर्टेंट डेट, आई शुड बी केयरफुल नॉट टु गिव हिम रांग इम्प्रैशन.'

अदिति भी हँस पड़ी और मेरी हू-बहू नकल करते बोली, 'आप कब से मेरी बात सुनने लगी हैं!'

तनाव थोड़ा-सा कम हो रहा है पर हाथों के कम्पन ने फिर भी बिंदी गिरा ही दी.

अदिति बोली, 'माँ, थोड़ी देर बैठ जाओ, न हो तो थोड़ा-सा योगा कर लो.'

'क्या? मैं और योगा? अरे! कब देखा है तुमने मुझे योगा करते हुये?'

'हाँ माँ', अदिति ने गम्भीरता से कहा, 'इट माइट रिलैक्स यू. जूली रोज़ करती है. कहती है कि टेन्शन भी नहीं रहता और इससे रंग-रूप भी निखरता है.'

थोड़ा-सा तनाव दूर होने से हल्की-सी जो शांति उपजी थी वो जूली के नाम से ही कपूर की तरह उड़ गयी. शरीर की हर-एक मांस-पेशियाँ सूखी लकड़ी की तरह अकड़ गयीं. मुँह का स्वाद न चाहते हुये भी कड़वा गया. अपने को शांत रखने की बड़ी कोशिशों के बावजूद आवाज़ में 'सरकाज़्म' उभर पड़ा - 'हाँ, जूली को ही योगा की ज़्यादा ज़रूरत है. तुम्हारे पिता के साथ रहने के लिए जूली को ही योगा से उत्पन्न शांति

की ज़्यादा ज़रूरत है. मैं तो अपने हिस्टीरिया के साथ ही सबसे ज़्यादा 'कंफरटेबल' हूँ, मुझे तो यही आता है.'

'आय एम सॉरी मम्मी', अदिति ने जल्दी से मेरा हाथ पकड़ते हुये कहा, 'पता नहीं क्यों मैंने उसका नाम ले लिया, इट्स स्टूपिड ऑफ मी, प्लीज़, आय एम सॉरी.'

अपनी बड़ी कोशिशों के बावजूद कि चेहरे पर 'इंडिफरेन्स', अवज्ञा का मास्क चढ़ा लूँ, चेहरा अपना 'डिस्कम्फ़र्ट' न छुपा पा रहा था; होंठ वक्र होकर थरथरा रहे थे, गले की नसें बैठने का नाम नहीं ले रही थीं, अवांछित आँसुओं को रोकने की कोशिश में पलकें फड़फड़ाए जा रही थीं, सब कुछ धुँधला पड़ रहा था.

दूर से आती अदिति की आवाज़ ने, 'रियली मम्मी, आई डोंट नो व्हाई आय ब्रॉट हर अप!' - 'शायद मैं भी ऋतेश के साथ अपनी प्रथम डेट की वज़ह से नर्वस हूँ' - मुझे सचेत किया. अपने पर ही कोफ़्त हुई कि क्यों ऐसा होता है? 'फॉर गॉड सेक, अब तो साल हो गया है.'

किसी तरह अपने को सँभालती हुई बर्फ़ीली मुस्कान के साथ बोली, 'इट्स ऑल राइट बेटा, शी इज़ योर फ़ादर्स वाईफ' और ज़ोर से अपने होठों को दबा अगला वाक्य निकलने से रोक पाई, 'ईवन शी इज़ यंग इनफ़ टु बी योर सिस्टर.'

बेटी की आँखों में झलकी ममता और दया का मिश्रण न झेल सकी. शीशे की ओर मुँह फेर आँखों के नीचे की लाइन मिटाने लगी. मिटाते-मिटाते थक गयी पर वो न मिटी और तब आभास हुआ कि यह मिटाने वाली लाइन नहीं, यह तो विषाद के उन थपेड़ों की निशानी है जो अब उम्र भर अंकित रहेगी.

'मम्मी-मम्मी, आप ठीक तो हैं न?' अदिति की आवाज़ कानों से टकराई और न चाहते हुये भी बोल पड़ी, 'हाँ, ठीक ही तो हूँ, बयालीस साल की हो गयी हूँ, पति बाईस साल का साथ मेरे से आधी उम्र की लड़की के लिए छोड़ गए हैं. ठीक ही तो है, उसकी तो उम्र ही नहीं वज़न भी शायद मेरे से आधा होगा! तीन सिजेरियन बच्चों के बाद माँस-पेशियाँ कसाव में आने का नाम नहीं लेना चाहतीं, जवानी दामन छिटक दूर खड़ी हो गयी है. शादी से पहले कभी डेट नहीं की और शादी के बाद तो डेट का प्रश्न ही नहीं उठता; तुम्हारे पिता ही सब कुछ थे. आज ज़िंदगी में पहली बार डेट पर जा रही हूँ. वो आदमी जो कुछ ही मिनटों में मेरा द्वार खटखटाएगा, समझ नहीं आता उससे क्या कहूँगी? कैसे 'बिहेव' करूँगी?'

'मम्मी, याद करो, आपने हमें क्या शिक्षा दी है', अदिति माँ को उसके इस मूड से निकालने का प्रयत्न करती हुई बोली.

थोड़ी-सी निधि की मुस्कुराहट वापस आई - 'यही कि ज़्यादा चपड़-चपड़ न करना.....'

'मम्मी!!'

'पगली, मैं तो मज़ाक कर रही थी.'

'मम्मी प्लीज़, आज कोई मज़ाक नहीं, ठीक है न? आज आप सिर्फ़ आप ही रहें', और उसने वो ढेर सारे उपदेश जो कभी मैंने उसे दिये थे और उसके पहले मेरी माँ ने मुझे दिये थे, दे डाले; और फिर नटखटी मुस्कुराहट से बोली, 'यदि आप ज़्यादा नर्वस हों तो बोलिएगा मत, चुपचाप सुनती रहिएगा. पुरुषों को अच्छा लगता है जब कोई उन्हें सुनता रहे, अपने को महत्वपूर्ण समझने लगते हैं. कहते हुये अदिति अपने बाल बनाने लगी.

उसकी पीठ होते ही मैं फिर आशंकाओं के अँधेरे कुएँ में गिरती चली गयी. अपनी आवाज़ उसी अँधेरे कुएँ से आती लगी कि, 'यह कैसी विवशता है! अनिल ने तो मुझे अपने जीवन से झाड़-बुहार कर

कचड़े की तरह बाहर फेंक दिया और मैं सारी कटुताओं के साथ उसे अपने में समाये बैठी हूँ. यद्दपि क्रोधित हूँ पर क्रोध से कहीं ज़्यादा विरह भावना से पीड़ित हूँ. विरह और क्रोध में गहरा अन्तर है - एक कविता है दूसरा जंगल की आग. संबंध टूट जाते हैं पर संदर्भ बने रहते हैं और आदमी तड़पता रहता है. किसी भी तरह आँचल झटककर दूर नहीं हो पा रही हूँ.

अदिति मेरी ओर मुड़ी और एक बार जो मेरे बोलने का प्रवाह चालू हो गया था वो अबाध गति से बहने लगा - 'हाँ अदिति, हालाँकि शादी के दूसरे साल से ही अनिल विश्वासघात करने लगे थे और मैं अपने को ही दोषी माने, उनके अनुरूप ढलने का निरंतर प्रयास करती रही.'

'लोग कहते हैं, आदमी का प्यार उसकी जिह्वा में समा जाता है, अत: मैंने उनकी पसंद की खाने की चीजों में निपुणता हासिल की.'

'हर तरह से, हर कोण से अपने को बदला, पर कहीं कोई अन्तर न पड़ा.'

'मेरी तो अनिल ने चारदीवारी पर लगी बेल की तरह उसमें से जब जी चाहा फूल नोंच, बाकी समय अवहेलना ही की है. मेरे संदर्भ में रिश्ते के हाथों माँग में चुटकी-भर सिन्दूर भर, सिंदूरी अस्तित्व से काँटेदार फेंसिंग लगा दी - यह लड़की वर्जित क्षेत्र है, इस सरहद के बाहर निकल इसे जीने का कोई हक़ नहीं है! पर मैं स्वयं इसकी इस सीमा-रेखा से बाध्य नहीं हूँ, जब चाहूँ, जहाँ चाहूँ, निरंकुश जा सकता हूँ.'

'उनका अलमस्त, फक्कड़ स्वभाव, उनकी फ़्लर्टनेस जो शादी के प्रथम वर्ष गुदगुदा जाती थी और जिसे मैं निधि की निधि समझे बैठी थी वही मेरी सौतन बन बैठी और उस निधि पर डाका डालने, उसे हड़पने कई जूलियाँ आईं और गईं.'

'आदमी स्वभावगत् ही रहता है. बदल के भी आदमी बदलता नहीं है चाहे वह कितना ही पढ़ा-लिखा, सभ्यता के शिखर पर पहुँचा हुआ हो. काफी समय बाद यह अक्ल आई. कई सालों तक कुछ तथ्य हठी बालक की तरह भेजे में घुसने से साफ़ इंकार करते रहे, अंत में यह तथ्य स्वीकारना ही पड़ा कि शायद प्रकृति की तरह आदमी की ज़िन्दगी भी अपने साँचे को बदल नहीं पाती है. अभी भी 'शायद की सम्भावना' मुँह बाये बीच में खड़ी ही थी. कोशिशें, नये प्रयोग, प्रयास, सब कुछ जब एक 'एक्सपेरिमेंटल' चल-चित्र की तरह पर्दे पर उभर कर वहीं ख़त्म हो गए तब जाना शोषण और शोषित का सिलसिला अनंत था, उसके नये सिरे खड़े हो जाते थे, नित नये संबंध, ताल्लुक उभर आते थे.'

'हर अफ़ेयर धीरे-धीरे दिल को नम व जड़ करता गया, और फिर तीन बच्चों के साथ जाती भी तो कहाँ जाती? सच पूछो तो जाना भी नहीं चाहती थी कहीं. अनिल के साथ कुछ इस तरह जुड़ी थी कि सब यातनाओं के बावजूद, उसे जीवन का नासूर समझ काट न सकी.'

'अनिल ने मुझे उस पुरानी कश्ती की तरह बेदिली से समुद्र किनारे फेंक दिया जो उनके अनुसार खुले समुद्र में तैरने के क़ाबिल न थी अत: उसे समुद्र के किनारे रेत पर उतार कर बेदली से फेंकना मानों उनका जन्मसिद्ध अधिकार था. ये कश्तियाँ जीर्ण-शीर्ण हो रेत के घरौंदे की तरह हो जाती हैं जो हवा के एक ही झोंके से टूट-फूटकर बिखर जाती हैं.'

अदिति ने सांत्वना भरे अपने हाथों से मेरे हाथों को सहलाया, लगा बच्ची इस माहौल में रह अपनी उम्र से बड़ी हो गयी है, अनायास मुँह से निकल पड़ा, 'बेटा, ऐसा नहीं कि मैं तुम बच्चों के चेहरों पर आये भावों को पढ़ नहीं पाती. मैं जानती हूँ कि तुम्हें अपने पिता पर रोष है. रोष क्या मुझे कम नहीं? पर स्नेह-तन्तु तोड़ने में अपने को असमर्थ पाती हूँ, इसीलिये तुम लोगों के चेहरों पर झलकी मेरी कमज़ोरी के प्रति अधैर्यता चुपचाप सहन कर जाती हूँ. ये कैसा रिश्ता है! और फिर यह रिश्ता है ही कहाँ? किस रिश्ते से जुड़ी बैठी हूँ! रिश्ते का अर्थ है - नैकट्य - नहीं तो.....'

'मित्रों और शुभ-चिंतकों ने कई बार समझाया कि मैं अपनी ज़िन्दगी की बागडोर सँभालूँ, पर सँभालती तो कैसे? आत्म-प्रताड़ना से फुर्सत मिले तब न!'

'और फिर जब उम्र की धूप का साया ज़िन्दगी की मुंडेर से ढल गया तो मेरे अंदर बहुत-सी इंतज़ार-भरी शामें यूँ ठहर गयीं जैसे डाँट-फटकार और दहशत से बच्चे की आँख में आँसू ठहर जाता है. संधियों से भरी दुनिया छोड़ने का साहस न कर सकी.'

'उम्र बढ़ी है, देह की गठन में शिथिलता उभरने लगी है किन्तु मन जहाँ पतंग की तरह कटकर वृक्ष पर अटक गया था, आज भी वहीं अटका है. इसीलिये नये सपने आते नहीं हैं और पुराने भयावने सपने बार-बार दस्तक देते हैं, यहाँ तक कि अतीत की उन थोड़ी-सी बची-खुची कोमल भावनाओं को भी चील-कौओं की तरह नोंच-नोंचकर खा जाते हैं. कैसी त्रिशंकु की स्थिति में लटकी हूँ!'

'यह नहीं कि उम्मीदें जब-तब दिल में करवटें नहीं लेती रहीं. दिल! ये दिल भी क्या चीज़ है! आदमी की मुट्ठी-भर के आकार का लोथड़ा ही न जो रगों में बहते खून को रात-दिन पंप करता रहता है? यही है न वह दिल जिसमें उम्मीदें किसी-न-किसी शक्ल-सूरत में, किसी-न-किसी नाड़ी में करवटें बदलती कही जाती हैं? पर आत्म-ग्लानि, रोष, कड़वाहट से भरे मेरे दिल में किसी और भावना के लिए कोई जगह ही नहीं बची थी. ज़िन्दगी का हर पहलू इनसे भरा हुआ था कि एक सुबह आँख खुली और पाया कि इस दरमियान धीरे-धीरे मैंने सब मित्रों को दूर खिसका दिया और तुम लोगों के चेहरे पर भी लुकी-छिपी मेरे प्रति अधैर्यता दिन-ब-दिन ज़्यादा उजागर होने लगी और तब लगा मेरा यह रोष, मेरी यह प्रताड़ना सिर्फ़ मुझे ही खा कर संतुष्ट नहीं, मेरे परिवार की ओर भी मुँह बाये खड़ी है. उस दिन मैं यह जान गयी कि अब मुझे इस दलदल से निकलना ही पड़ेगा, और उसी दिन से शुरू हो गया था आत्म-सम्मान को पाने का अनंत सफ़र.

जिस दिन पहली बार नौकरी पर गयी थी, आत्म-विश्वास फिर डगमगा गया था, पर तुम लोगों के मेरे प्रति उल्लसित चेहरे देख डगमगाते कदमों को सहारा मिला था.'

'अदिति, यहीं पर ऑफिस में पीयूष से मुलाक़ात हुई. तुम्हारे पिता से बिल्कुल अलग व्यक्तित्व - शांत, गम्भीर, अल्प-भाषी, पर अपनी लगन के पक्के. दो बार मना करने पर भी आज शाम की डिनर-डेट के लिए पूछ बैठे.'

'अब तुम्हीं बताओ उम्र के इस दौर में कैसे परियों के देश में पहुँच जाऊँ? कहाँ से वह उत्साह लाऊँ जो कब का मुझे छोड़ चुका है? न.....अब मुझमें और निराशाओं को झेलने की शक्ति नहीं रही. मैं न जा पाऊँगी. यह प्रथम डेट शुरू होने से पहले ही समाप्त हो जाए तो बेहतर है.'

मैं अपना मुँह छिपाते हुये मुड़ने ही वाली थी कि अदिति की दर्पण से झाँकती दो बेबस आँखें मेरे पैरों में बेड़ी डाल गयीं और मैं वैसे ही, वहीं जकड़ी खड़ी रह गयी.

अदिति की आँखें मुझे बरबस खींचे जा रही थीं. भावनाओं के ज्वार-भाटे पर किसी तरह अंकुश लगा कर आवाज़ को सामान्य बनाते हुये, नये संकल्प के साथ बोली, 'नीली हल्की ज़री वाली साड़ी ही ठीक रहेगी, कुछ तो ग्लैमरस भी होना ही चाहिए न!'

क्षणांश में अदिति मेरी बाँहों में झूल रही थी. आँखें तरल हो उठीं, ममत्व उतर आया उनमें. खोये हुये दिन तो नहीं लौट सकते पर ज़िन्दगी की ख़ुशी में शायद कुछ क्षण ब्याज़ रूप में मिलने की उम्मीद हो गयी हो. दुनिया ही उम्मीद पर टिकी है. आदमी उम्मीद पर ही जीता है. आशा की बैसाखी लिए ही दुर्गम से दुर्गम पथ पार कर जाता है.

मैंने प्यार से अदिति के माथे को चूमा और उसके बालों को सहलाते हुये अचानक मेरी नज़र दर्पण पर पड़ी जहाँ दर्पण से झाँकती अपनी आँखों को देख मैं चौंक पड़ी, उनमें प्रथम डेट का भय नहीं था, वरन्

थी आशा की किरण. बाहर लाल गुलाबों की दहकन साँझ के धुँधलके में काँटों को अपनी हरीतिमा में छुपा, सिर्फ़ और केवल सिर्फ़ अपनी तपिश, अपनी मादक सुगन्ध वातावरण में लहरा रही थी. फूलों की लाली से निकला एक गहरा नशा हवा में फैल मदहोश किए जा रहा था.

जीवन-संध्या

डॉ. मुक्ता

जीवन संध्या
एक सिलसिला है
आँसुओं का, दु:खों का, विषादों का
अंतहीन सिसकियों का
जहाँ इन्सान को हर पल
आँसुओं को पीकर मुस्कराना पड़ता है
जहाँ जीना पड़ता है
होठों को सी, मन को मार
झूठ का आश्रय ले
इस रंगमंच पर
पहनने पड़ते हैं मुखौटे
लगाना पड़ता है सुर्ख़ रंग
शुष्क फटे होठों पर
गाना और मुस्कराना पड़ता है।
मन सोचता है
शायद लौट आएँ
वे मधुर क्षण
होंठ, फिर से प्रेम के तराने गुनगुनाएँ
वह हास-परिहास, माधुर्य
साहचर्य व रमणीयता
उसे दोबारा मिल जाए
लौट आए सामंजस्यता उसके जीवन में
परन्तु सब प्रयास निष्फल व निरर्थक
जो गुज़र गया
उसे भूलना ही हितकर, सदैव श्रेयस्कर
यही सत्य जीवन का
यथार्थ सृष्टि का।

महर्षि अरविन्द का अनुवाद-कर्म

उपेन्द्र नाथ 'अनन्य'

अनुवाद की आधुनिक अवधारणा के अनुसार अनुवाद केवल भाषिक अंतरण नहीं बल्कि वास्तव में सांस्कृतिक संप्रेषण एवं अंतरण है. सांस्कृतिक तत्वों के संप्रेषण के संदर्भ में **श्री अरविन्द** का यह विचार महत्वपूर्ण है कि **'शब्द केवल प्रतीक हैं, जिसकी तीन इकाइयाँ हैं - शब्द, अर्थ और उसकी चेतना. अनुवाद में हमें इन प्रतीकों द्वारा इंगित अर्थ अथवा विचार के स्वरूप को पकड़ना होता है. यह अर्थ भी कभी-कभी ऐसे गहन तत्त्वों का वाहक होता है जिसे लेखक अपने विचार के माध्यम से पाठक की बौद्धिक संवेदना तक लाना चाहता है.'**

अरविन्द के अनुसार **- 'शब्द ही नहीं, विचार भी उनसे परे की एक गहन भाषा के प्रतीक मात्र हैं. इसीलिए अनुवादक को उन प्रतीकों के अंतरण में प्रविष्ट होकर उनमें निहित अर्थ को पहले अनुभव करना और तब कई व्याख्यात्मक प्रणालियों से उसे संप्रेषित करना चाहिए. अनुवाद में टिप्पणियों, मूल शब्द को उधार लेना, परिभाषा देना, शाब्दिक सृजन, लगभग समान शब्द से प्रतिस्थापन, घटा-बढ़ी, क्षति-पूर्ति आदि प्रविधियाँ एक तरह से व्याख्या की ही प्रविधियाँ हैं. कभी-कभी इनमें से कई प्रविधियों को मिला देते हैं. जिस प्रकार एक ही भाषा की प्राचीन रचना के लिए नवीन भाषा की आवश्यकता पड़ती है, इसी प्रकार स्त्रोत भाषा की संस्कृति की व्याख्या लक्ष्य भाषा में उपलब्ध प्रतीकों के माध्यम से करते हैं,'**

अरविन्द ने अपने ग्रंथ **Hymns to the Mystic Fire (अग्नि स्तुति)** की भूमिका में लिखा है - **'इस ग्रंथ में वेद मंत्रों का जो अनुवाद दिया गया है वह पूरा-पूरा शब्दश: अनुवाद नहीं है अपितु एक साहित्यिक अनुवाद है, परन्तु इस अनुवाद में शब्दों के अर्थ एवं आशय के प्रति और विचार की रचना के प्रति पूरी-पूरी निष्ठा रखी गई है : वस्तुत: पद्धति ही यह बरती गई है कि वास्तविक भाषा का बिना कुछ भी नमक-मिर्च लगाए, बहुत सावधानीपूर्वक यथातथ्य अनुवाद करने से प्रारम्भ किया जाए और व्याख्या के आधार के रूप में इसी का निरन्तर अनुसरण किया जाए, क्योंकि केवल इसी प्रकार से हम इन प्राचीन रहस्यवादियों के वास्तविक विचारों का पता निकाल सकते हैं.'**

श्री अरविंद ने वेदों का Hymns to the Mystic Fire के नाम से, The secret of the Veda नाम से अनुवाद किया है. इन्होंने उपनिषदों में ईश उपनिषद् का भी अनुवाद किया है. The century of life एवं Songs of Vidyapati इनके अन्य अनूदित ग्रंथ हैं.

एक अनुवादक के रूप में इनके विचार किसी भी अनुवादक को भावी दिशा दे सकते हैं. उनका अनुवाद सम्बन्धी कर्म भारतीय स्वतंत्रता की कड़ी में एक नव-जागरण के उद्घोष के रूप में देखा जा सकता है.

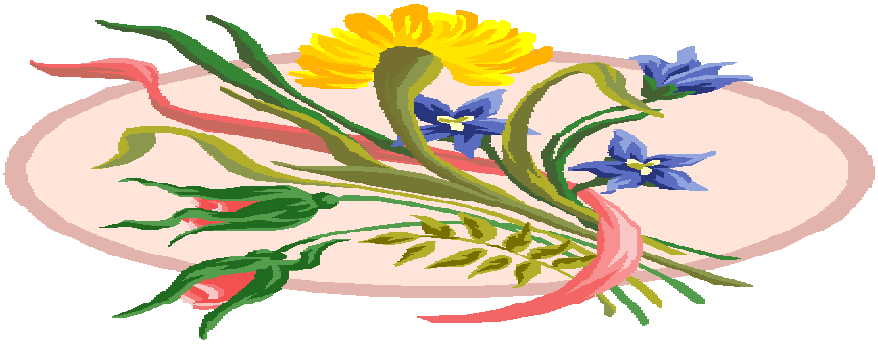

एक अशुद्ध बेवकूफ़

हरिशंकर परसाई

बिना जाने बेवकूफ बनाना एक अलग और आसान चीज़ है। कोई भी इसे निभा देता है। मगर यह जानते हुए कि मैं बेवकूफ बनाया जा रहा हूँ और जो मुझे कहा जा रहा है, वह सब झूठ है - बेवकूफ बनते जाने का एक अपना मज़ा है। यह तपस्या है। मैं इस तपस्या का मज़ा लेने का आदी हो गया हूँ। पर यह महँगा मज़ा है - मानसिक रूप से भी और इस तरह से भी। इसलिए जिनकी हैसियत नहीं है उन्हें यह मज़ा नहीं लेना चाहिए। इसमें मज़ा ही मज़ा नहीं है - करुणा है, मनुष्य की मजबूरियों पर सहानुभूति है, आदमी की पीड़ा की दारुण व्यथा है। यह सस्ता मज़ा नहीं है। जो हैसियत नहीं रखते उनके लिए दो रास्ते हैं - चिढ़ जायें या शुद्ध बेवकूफ बन जायें। शुद्ध बेवकूफ एक दैवी वरदान है, मनुष्य जाति को। दुनिया का आधा सुख ख़त्म हो जाए, अगर शुद्ध बेवकूफ न हों। मैं शुद्ध नहीं, 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ। और शुद्ध बेवकूफ बनने को हमेशा उत्सुक रहता हूँ।

अभी जो साहब आये थे, निहायत अच्छे आदमी हैं। अच्छी सरकारी नौकरी में हैं। साहित्यिक भी हैं। कविता भी लिखते हैं। वे एक परिचित के साथ मेरे पास कवि के रूप में आये। बातें काव्य की ही घंटा भर होती रहीं - तुलसीदास, सूरदास, गालिब, अनीस वगैरह। पर मैं 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ, इसलिए काव्य-चर्चा का मज़ा लेते हुए भी जान रहा था कि भेंट के बाद काव्य के सिवाय कोई और बात निकलेगी। वे मेरी तारीफ़ भी करते रहे और मैं बरदाश्त करता रहा। पर मैं जानता था कि वे साहित्य के कारण मेरे पास नहीं आये।

मैंने उनसे कविता सुनाने को कहा। आमतौर पर कवि कविता सुनाने को उत्सुक रहता है, पर वे कविता सुनाने में संकोच कर रहे थे। कविता उन्होंने सुनायी, पर बड़े बेमन से। वे साहित्य के कारण आये ही नहीं थे - वरना कविता की फरमाइश पर तो मुर्दा भी बोलने लगता है।

मैंने कहा - कुछ सुनाइए।

वे बोले - मैं आपसे कुछ लेने आया हूँ।

मैंने समझा ये शायद ज्ञान लेने आये हैं। मैंने सोचा - यह आदमी ईश्वर से भी बड़ा है। ईश्वर को भी प्रोत्साहित किया जाए तो वह अपनी तुकबंदी सुनाने के लिए सारे विश्व को इकट्ठा कर लेगा। पर ये सज्जन कविता सुनाने में संकोच कर रहे थे और कह रहे थे - हम तो आपसे कुछ लेने आये हैं।

मैं समझता रहा कि ये समाज और साहित्य के बारे में कुछ ज्ञान लेने आये हैं। कविताएँ उन्होंने बड़े बेमन से सुना दीं। मैंने तारीफ की, पर वे प्रसन्न नहीं हुए। यह अचरज़ की सी बात थी। घटिया से घटिया साहित्यिक सर्जक भी प्रशंसा से पागल हो जाता है। पर वे जरा भी प्रशंसा से विचलित नहीं हुए।

उठने लगे तो बोले - डिपार्टमेंट में मेरा प्रमोशन होना है। किसी कारण अटक गया है। जरा आप सेक्रेटरी से कह दीजिए, तो मेरा काम हो जाएगा।

मैंने कहा - सेक्रेटरी क्यों? मैं मन्त्री से कह दूँगा। पर आप कविता अच्छी लिखते हैं।

एक घण्टे जानकर भी मैं साहित्य के नाम पर बेवकूफ बना - मैं 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ ।

एक प्रोफेसर साहब क्लास वन के। वे इधर आये। विभाग के डीन मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, यह वे नहीं जानते थे। यों वे मुझसे पच्चीसों बार मिल चुके थे। पर जब वे डीन के साथ मिले तो उन्होंने मुझे पहचाना ही नहीं। डीन ने मेरा परिचय उनसे करवाया। मैंने भी ऐसा बर्ताव किया, जैसे यह मेरा उनसे पहला परिचय है। डीन मेरे यार हैं। कहने लगे - यार चलो केण्टीन में, अच्छी चाय पी जाय। अच्छा नमकीन भी मिल जाए तो मज़ा आ जाय।

अब क्लास वन के प्रोफेसर साहब थोड़ा चौंके।

हम लोगों ने चाय और नाश्ता किया। अब वे समझ गये कि मैं 'अशुद्ध' बेवकूफ हूँ।

कहने लगे - सालों से मेरी लालसा थी कि आपके दर्शन करूँ। आज यह लालसा पूर्ण हुई। (हालाँकि वे कई बार मिल चुके थे। पर डीन सामने थे।)

अँग्रेजी में एक बड़ा अच्छा मुहावरा है -'टेक इट विद ए पिंच ऑफ साल्ट'- याने थोड़े नमक के साथ लीजिए। मैंने अपनी तारीफ़ थोड़े नमक के साथ ले ली।

शाम को प्रोफेसर साहब मेरे घर आये। कहने लगे - डीन साहब तो आपके बड़े घनिष्ठ हैं। उनसे कहिए न कि मुझे पेपर दे दें, कुछ कॉपियाँ भी - और 'मॉडरेशन' के लिए बुला लें तो और अच्छा है।

मैंने कहा - मैं ये सब काम डीन से आपके करवा दूँगा। पर आपने मुझे पहचानने में थोड़ी देर कर दी थी।

बेचारे क्या जवाब देते? अशुद्ध बेवकूफ मैं - मज़ा लेता रहा कि वे क्लास वन के अफसर नहीं, चपरासी की तरह मेरे पास से विदा हुए। बड़ा आदमी भी कितना बेचारा होता है।

एक दिन मई की भरी दोपहर में एक साहब आ गये। भयंकर गर्मी और धूप। मैंने सोचा कि कोई भयंकर बात हो गई है, तभी ये इस वक़्त आये हैं। वे पसीना पोंछकर वियतनाम की बात करने लगे। वियतनाम में अमरीकी बर्बरता की बात कर रहे थे। मैं जानता था कि मैं निक्सन नहीं हूँ। पर वे जानते थे कि मैं बेवकूफ हूँ। मैं भी जानता था कि इनकी चिंता वियतनाम नहीं है।

घण्टे-भर राजनीतिक बातें हुईं।

वे उठे तो कहने लगे - मुझे जरा दस रुपये दे दीजिए।

मैंने दे दिए और वियतनाम की समस्या आख़िर कुल दस रुपये में निपट गई।

एक दिन एक नीति वाले भी आ गये। बड़े तैश में थे। कहने लगे - हद हो गयी !चेकोस्लोवाकिया में रूस का इतना हस्तक्षेप !आपको फौरन वक्तव्य देना चाहिए।

मैंने कहा - मैं न रूस का प्रवक्ता हूँ न चेकोस्लोवाकिया का। मेरे बोलने से क्या होगा।

वे कहने लगे - मगर आप भारतीय हैं, लेखक हैं, बुद्धिजीवी हैं। आपको कुछ कहना ही चाहिए।

मैंने कहा - बुद्धिजीवी वक्तव्य दे रहे हैं। यही काफी है। कल वे ठीक उल्टा वक्तव्य भी दे सकते हैं, क्योंकि वे बुद्धिजीवी हैं।

वे बोले - याने बुद्धिजीवी बेईमान भी होता है?

मैंने कहा - आदमी ही तो ईमानदार और बेईमान होता है। बुद्धिजीवी भी आदमी ही है। वह सुअर या गधे की तरह ईमानदार नहीं हो सकता। पर यह बतलाईये कि इस समय क्या आप चेकोस्लोवाकिया के कारण परेशान हैं? आपकी पार्टी तो काफी नारे लगा रही है। एक छोटा सा-नारा आप भी लगा दें और परेशानी से बरी हो जाएँ।

वे बोले - बात यह है कि मैं एक ख़ास काम से आपके पास आया था। लड़के ने रूस की लुमुम्बा यूनिवर्सिटी के लिए दरख़्वास्त दी है। आप दिल्ली में किसी को लिख दें तो उसका सिलेक्शन हो जाएगा।

मैंने कहा - कुल इतनी-सी बात है। आप चेकोस्लोवाकिया के कारण परेशान हैं। रूस से नाराज हैं। पर लड़के को स्कॉलरशिप पर रूस भेजना भी चाहते हैं।

वे गुमसुम हो गए। मुझ अशुद्ध बेवकूफ की दया जाग गयी।

मैंने कहा - आप जाइए। निश्चिंत रहिए - लड़के के लिए जो मैं कर सकता हूँ करूँगा।

वे चले गए। बाद में मैं मज़ा लेता रहा। जानते हुए बेवकूफ बनने-वाले 'अशुद्ध' बेवकूफ के अलग मज़े हैं। मुझे याद आया गुरु कबीर ने कहा था -'माया महा ठगनि हम जानी'।.....

बादल को देख कर

डॉ. कुँअर बेचैन

बादल के संग मोर, मोर के साथ मयूरी नाच उठी
अम्बर ने धरती को जो लिक्खी, वो चिट्ठी बाँच उठी

मस्त पवन के हाथों में जब बादल के रुमाल नचे
लहर-लहर कर नदिया नाची, ठहर-ठहर कर ताल नचे
ठुमक-ठुमक कर नावें नाचीं, फहर-फहर कर पाल नचे
झीलें नाचीं, मछली नाचीं, मछुआरों के जाल नचे
पागल हिरनी, हिरना के संग भरकर नई कुलाँच उठी
अम्बर ने धरती को जो लिक्खी, वो चिट्ठी बाँच उठी

बुलबुल संग नाची गौरया, मैना संग मिट्ठू नाचा
भँवरे नाचे, तितली नाची, फूल लिए ख़ुशबू नाचा
होठों पर मुस्कानें नाचीं, आँखों में आँसू नाचा
ये भी नाचा, वो भी नाचा, मेरे संग-संग तू नाचा
नर्म हथेली, लेकर अपने साथ उंगलियाँ पाँच, उठी
अम्बर ने धरती को जो लिक्खी, वो चिट्ठी बाँच उठी

मेंहदी लिए हथेली नाची, लिए महावर पाँव नचे
हँसुली और हार दोनों ही, ले आँचल की छाँव, नचे
नचा पपिहरा और मुंडेरी पर कागा की काँव नचे
गोरी नाची तो गोरी के संग-संग सारा गाँव नचे
नई दुल्हन के भीगे तन में मीठी-मीठी आँच उठी
अम्बर ने धरती को जो लिक्खी, वो चिट्ठी बाँच उठी

डाली-डाली झूले नाचे, झूलों पर गोरी नाची
नाची ढिल्लन की दुलहिनिया, छज्जू की छोरी नाची
कोई नाची खुलकर तो कोई चोरी-चोरी नाची
पनघट के तट पर इठलाकर इक गागर कोरी नाची
कोई झूठी कसम प्यार की, बनकर कितनी साँच उठी
अम्बर ने धरती को जो लिक्खी, वो चिट्ठी बाँच उठी

अधरों पर नाची वंशीधुन, धुन में नूतन सुर नाचे
दुनिया नाची अपनी धुन पर, अपनी धुन सुरपुर नाचे
तरु से लिपटी बेलें नाचीं, कृषकों के भी उर नाचे
नाचीं कृषक-बालिकाएँ, जब खेतों में अंकुर नाचे
काग़ज़ की हर नाव, लहर पर अपनी ताक़त जाँच उठी
अम्बर ने धरती को जो लिक्खी, वो चिट्ठी बाँच उठी

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)
कैकेयी : चेतना-शिखा	(उपन्यास)
आज का समाज	(लेख-संग्रह)
चिन्तन के धागों में कैकेयी	(शोध-ग्रन्थ)
सन्दर्भ : श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण	
कैकेयी : चेतना-शिखा	(उपन्यास, द्वितीय संस्करण)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित